महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
(A Central University Established by Parliament by Act No.3 of 1997)

एमएसडब्ल्यू पाठ्यक्रम (80 क्रेडिट)
प्रथम सेमेस्टर

दूर शिक्षा निदेशालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
पोस्ट – हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा – 442001 (महाराष्ट्र)

मार्ग निर्देशन समिति

प्रो. गिरीश्वर मिश्र
कुलपति
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. आनंद वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. अरबिंद कुमार झा
निदेशक (दूर शिक्षा निदेशालय)
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

पाठ्यचर्या निर्माण समिति

प्रो. मनोज कुमार
निदेशक – म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. मिथिलेश कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर , म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. शिवसिंह बघेल
असिस्टेंट प्रोफेसर , म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

श्री अमोद गुर्जर
असिस्टेंट प्रोफेसर , म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. शंभू जोशी
असिस्टेंट प्रोफेसर एवं पाठ्यक्रम संयोजक, दूर शिक्षा निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

संपादन मंडल

प्रो. मनोज कुमार
निदेशक – म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. मिथिलेश कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर
म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. शंभू जोशी
असिस्टेंट प्रोफेसर एवं पाठ्यक्रम संयोजक
दूर शिक्षा निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

इकाई लेखन

खंड-1
श्री अनुराग कुमार पाण्डेय

खंड- 2
श्री अनुराग कुमार पाण्डेय

खंड– 3
श्री अनुराग कुमार पाण्डेय

खंड-4
श्री अनुराग कुमार पाण्डेय

कार्यालयीन एवं संपादकीय सहयोग

श्री विनोद वैद्य
अनुभाग अधिकारी, दू.शि. निदेशालय

सुश्री शिल्पा एवं श्री प्रवेश कुमार
सहायक, दू.शि. निदेशालय

श्री हरीश चंद्र शाह
तकनीकी सहायक, दू.शि. निदेशालय

श्री महेन्द्र प्रसाद
संपादकीय सहायक, दू.शि. निदेशालय

सुश्री मेघा आचार्य
प्रूफ रीडर, दू.शि. निदेशालय

सुश्री राधा
टंकक, दू.शि. निदेशालय

आवरण पृष्ठ
सुश्री मेघा आचार्य

अनुक्रम

क्र.सं.	खंड का नाम	पृष्ठ संख्या
1	**खंड - 1 - समाज की मूलभूत संकल्पनाए**	3
	इकाई - 1 भारतीय समाज: संरचना, वर्गीकरण और स्तरीकरण	4 – 15
	इकाई - 2 सामाजिक समूह, सामाजिक संस्थाएं और सामाजिक नियंत्रण	16 - 29
	इकाई - 3 समुदाय की संकल्पना- शहरी,ग्रामीण एवं आदिवासी	30 - 39
	इकाई - 4 सामाजिक बदलाव - अर्थ, विशेषताएं और कारक	40 - 45
2	**खंड - 2 – सामाजिक समस्याएं एवं आंदोलन**	46
	इकाई - 1 भारत में सामाजिक समस्याएं एवं उनका प्रभाव	47 - 56
	इकाई - 2 भारत में सामाजिक आंदोलन (स्वतंत्रता पूर्व)	57 - 66
	इकाई - 3 भारत में सामाजिक आंदोलन (स्वतंत्रता पश्चात)	67 - 80
	इकाई - 4 नव सामाजिक आंदोलन एवं विमर्श	81 - 88
3	**खंड - 3 - पारिवारिक संरचना**	89
	इकाई - 1 परिवार एवं विवाह की अवधारणा	90 - 101
	इकाई - 2 परिवार एवं विवाह के बदलते प्रतिमान	102 - 109
	इकाई - 3 पितृसत्ता एवं जेंडर विमर्श	110 - 119
	इकाई - 4 पारिवारिक व्यवस्था में समकालीन समस्याएं	120 - 127
4	**खंड - 4 - समकालीन संकल्पनाएं**	128
	इकाई - 1 राजनीतिक विचारों का विकास : राष्ट्र-राज्य का उदय एवं राष्ट्रवाद	129 - 137
	इकाई - 2 राजनीतिक विचारों का विकास : नवउपनिवेशवाद एवं लोकतंत्र विमर्श	138 - 143
	इकाई - 3 सामाजिक विचारों का विकास : मैक्स वेबर, दुर्खीम, टॉल्कट पार्सन एवं पियरे बोर्दियू	144 - 157
	इकाई - 4 सामाजिक विचारों का विकास : गांधी, अंबेडकर एवं लोहिया	158 - 166

MSW 02 सामाजिक विज्ञान अवधारणाएं

खंड परिचय

प्रिय विद्यार्थियों,

एमएसडब्ल्यू पाठ्यक्रम (प्रथम सत्र) के प्रश्नपत्र **MSW 02 सामाजिक विज्ञान अवधारणाएं** में आपका स्वागत है। इस प्रश्नपत्र को चार खंडों में विभाजित किया गया है।

पहले खंड में समाज की मूलभूत मान्यताओं को समझाया गया है। भारत समाज की संरचना, वर्गीकरण और स्तरीकरण की व्याख्या की गई है। सामाजिक समूहों, संस्थाओं, सामाजिक नियंत्रण तथा समुदाय के विभिन्न रूपों (शहरी, ग्रामीण एवं आदिवासी) को स्पष्ट किया गया है। सामाजिक बदलाव के अर्थ, विशेषताओं और कारकों को रेखांकित किया गया है।

दूसरे खंडमें भारत में विद्यमान विभिन्न सामाजिक समस्याओं और उनके प्रभावों को बताया गया है।आज़ादी से पूर्व और आज़ादी के बाद भारत में हुए सामाजिक आंदोलनों का परिचय दिया गया है। नवसामाजिक आंदोलनों और उनके द्वारा उठाए गए मुद्दों का उल्लेख किया गया है।

तीसरे खंड में पारिवारिक संरचना पर प्रकाश डाला गया है। परिवार एवं विवाह की अवधारणा, परिवार और विवाह के बदले प्रतिमानों को विस्तार से बताया गया है। पारिवारिक व्यवस्था में उत्पन्न समकालीन समस्याओं की चर्चा की गई है। पितृसत्ता और जेंडर विमर्श का परिचय दिया गया है।

चौथे खंड में अकादमिक जगत में व्याप्त समकालीन संकल्पनाओं का उल्लेख किया गया है, जिनमेंराष्ट्र-राज्य का उदय, राष्ट्रवाद, नवउपनिवेशवाद, लोकतंत्र विमर्श की चर्चा की गई है। मैक्स वेबर, दुर्खीम्, टॉल्कट पार्सन, पियरे बोर्दियू, महात्मा गांधी, डॉ.अंबेडकर एवं डॉ.राममनोहर लोहिया के सामाजिक विचारों को रेखांकित किया गया है।

खंड - 1

समाज की मूलभूत संकल्पनाएं

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई 1
भारतीय समाज: संरचना,वर्गीकरण और स्तरीकरण

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 भारतीय समाज: ऐतिहासिक परिदृश्य
1.3 भारतीय समाज की संरचना
1.4 भारतीय समाज के आधार अथवा विशेषताएँ
1.5 भारतीय समाज का वर्गीकरण
1.6 भारतीय समाज का स्तरीकरण
1.7 सारांश
1.8 बोध प्रश्न
1.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप –

- भारतीय समाज के ऐतिहासिक परिदृश्य और संरचना को समझ सकेंगे।
- भारतीय समाज की विशेषताओं को जान सकेंगे।
- भारतीय समाज के वर्गीकरण एवं स्तरीकरण के बारे में समझ विकसित कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

भारतीय समाज प्राचीन काल में अत्यंत संगठित रूप में अवस्थित थे। यहाँ वर्ण एवं जाति व्यवस्था ने समाज के अनेक लोगों की प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं को निश्चित कर संगठन को स्थायित्व प्रदान करने में महत्वपूर्ण योगदान प्रस्तुत किया। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थों के आधार पर मानव जीवन को निर्देशित और नियंत्रित करने का प्रयत्न किया गया। आश्रम व्यवस्था ने लोगों को समाज का योग्य सदस्य बनने और संपूर्ण समाज के प्रति उनकी ज़िम्मेदारी का अहसास कराया। विभिन्न प्रथाओं, परंपराओं, रीति-रिवाजों आदि ने व्यक्ति के व्यवहारों को उचित दिशा की ओर उन्मुख किया। समकालीन परिदृश्य में विभिन्न क्षेत्रों में बदलाव आए हैं और विशेषत: प्रौद्योगिक परिवर्तनों, व्यक्तिवादिता और स्वार्थवादिता के विस्तार के परिणामस्वरूप भारतीय समाज में मौलिक मान्यताओं के प्रति एकमत्यता का

ह्रास हुआ है। विभिन्न परिवर्तनों के बावजूद भारतीय समाज आज भी पाश्चात्य समाजों की तुलना में अधिक दृढ़ और सफल हैं।

1.2 भारतीय समाज: ऐतिहासिक परिदृश्य

भारतीय समाज के साथ 'भारतवर्ष' नाम जुड़ा हुआ है। इस संबंध में प्राचीन मत है कि यहाँ 'भरत' नामक एक प्रतापी राजा शासन किया करता था। उसी के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा। भारत को 'हिंदुस्तान या 'इंडिया' के नाम से भी संबोधित किया जाता है। यह नाम इस देश के प्रारंभिक आक्रमणकारियों, फारसियों व यूनानियों द्वारा दिया गया है। उन्होंने इस देश का नाम सिंधु या इंडस नदी के नाम पर 'सिंधु का प्रदेश' रखा। फारसी 'स' अक्षर का उच्चारण 'ह' की भांति करते हैं, जिसके कारण इस देश का नाम 'हिंदुस्तान पड़ा।

भारत देश की लंबाई 3,214 किलोमीटर (कश्मीर से कन्याकुमारी तक) और चौड़ाई पूर्वी छोर से पश्चिमी छोर तक 2,933 किलोमीटर है। यह महाद्वीप विश्व के क्षेत्रफल की दृष्टि से 40वां भाग है। भारत की स्थलीय सीमा की लंबाई 15,200 किलोमीटर एवं समुद्री सीमा से 7,516 किलोमीटर है। भौगोलिक दृष्टि से भारत को निम्न पाँच भागों में बांटा जा सकता है –

- उत्तर का पर्वतीय प्रदेश
- उत्तरी भारत का बड़ा मैदान
- दक्षिण का पठारी प्रदेश
- राजस्थान का मरुस्थल
- समुद्र तट के मैदान

यदि भारत की जनसंख्यात्मक पृष्ठभूमि पर नजर डालें तो यह पता चलता है कि जहां 1901 में भारत की जनसंख्या 2,383 करोड़ थी, वहीं 1951 में यह 36.11 करोड़, 1991 में 84.39 करोड़ और 2001 में यह बढ़कर 102.87 करोड़ हो गई। इसमें पुरुषों की संख्या 53.22 करोड़ और महिलाओं की संख्या 49.65 करोड़ थी। भारत में प्रति वर्ष 3.6 करोड़ बच्चों का जन्म तथा 0.87 करोड़ व्यक्तियों की मृत्यु होती है। इन आंकड़ों के विश्लेषण से यह पता चलता है कि भारत की जनसंख्या प्रति वर्ष 2.13 करोड़ की दर से बढ़ रही है।

भारत में मुख्य रूप से छह धर्म प्रचलित हैं, यथा- हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, बौद्ध और जैन। इन धर्मों के अतिरिक्त भी कुछ धर्म और धार्मिक विश्वासों का प्रचलन हैं, परंतु उसके अनुयायी मात्र 0.73 प्रतिशत ही हैं। 2001 की जनसंख्या के अनुसार हिंदू धर्म को मानने वालों की संख्या 82.75 करोड़ (80.5 प्रतिशत) है, इस्लाम धर्म के अनुयायियों की संख्या 13.81 करोड़ (13.4 प्रतिशत), ईसाई धर्म को मानने

वालों की जनसंख्या 2.40 करोड़, सिक्ख धर्म के अनुयायियों की संख्या 1.92 करोड़, बौद्ध धर्म को मानने वालों की संख्या 79.55 लाख और जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या 42.25 करोड़ है।
2001 की जनगणना के अनुसार भारत में 1652 मातृभाषाएँ विद्यमान हैं, जिन्हें 826 भाषाओं के अंतर्गत लिया जा सकता है। इसमें से 103 भाषाएँ भारतीय मूल की नहीं हैं। इनमें से 15 भाषाएँ असमिया, उड़िया, उर्दू, कन्नड, कश्मीरी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, बांग्ला, पंजाबी, मराठी, संस्कृत, सिंधी, मलयालम और हिंदी सम्मिलित हैं। 20 अगस्त 1990 को तीन अन्य भाषाओं नेपाली, मणिपुरी और कोंकणी को आठवीं अनुसूची के अंतर्गत स्थान दिया गया है। इनमें हिंदी भाषीयों की संख्या सबसे अधिक अर्थात 33.72 करोड़ है। इसके बाद बांग्ला भाषी 6.95 करोड़ और फिर तेलुगु भाषी 6.60 करोड़ हैं।

1.3 भारतीय समाज की संरचना

सभी समाजों की एक पृथक संरचना होती है जो विभिन्न परंपराओं व संस्कृति में निहित होती है। भारतीय समाज की संरचनाओं व सांस्कृतिक जीवन को देखने पर कहा जा सकता है कि मूल रूप से यह दो आधारों पर टीका हुआ है –

- व्यक्ति एवं समाज का संतुलित समन्वय।
- विश्व-बंधुत्व की भावना एवं उसका प्रसार, जिसके कारण सांस्कृतिक समन्वय संभव हुआ है।

लुईस ड्यूमाजी.एस. घूरिए, मैडलबाम, योगेंद्र सिंह, एम.एन.श्रीनिवास, एस.सी.दूबे, आन्द्रे बेते, इरावती कर्वे, डी.एन. मजूमदार, हिचकॉक आदि कई विद्वानों द्वारा भारतीय समाज का अध्ययन किया गया है। योगेंद्र सिंह ने भारतीय समाज के चार प्रमुख संरचनात्मक एवं परंपरागत लक्षण प्रस्तुत किए हैं-

- श्रेणीबद्धता या संस्तरण
- समग्रवाद अथवा संपूर्णवाद
- निरंतरता
- लौकातीतत्व

एम.एन. श्रीनिवास ने सांस्कृतिक विविधता को भारतीय समाज की प्रमुख विशेषता माना है। विभिन्न विद्वानों द्वारा भारतीय सामाजिक संरचना के विभिन्न लक्षणों की चर्चा की गई है। ये सभी लक्षण शून्य में नहीं, अपितु गाँवों, कस्बों व नगरों में पाए जाते हैं।

1.4 भारतीय समाज के आधार अथवा विशेषताएँ

भारतीय समाज को मुख्य रूप से दो आधारों पर विश्लेषित किया जा सकता है –

I. दार्शनिक आधार
II. संगठनात्मक आधार

I. दार्शनिक आधार

दार्शनिक आधार में प्रमुख रूप से चार तत्वों को सम्मिलित किया जा सकता है, जो सामाजिक जीवन को संगठित बनाए रखने के साथ ही व्यक्ति को उसके कर्तव्यों के प्रति सचेत कराते हैं –

1. **पुरुषार्थ-** इसके अंतर्गत व्यक्ति के जीवन के प्रमुख चार लक्ष्यों को स्पष्ट किया जाता है। ये चार लक्ष्य हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म अर्थात नैतिक कर्तव्यों और नियमों का पालन जिससे व्यक्ति और समाज दोनों के विकास का मार्ग प्रशस्त किया जा सके। अर्थ से अभिप्राय मात्र धन या संपत्ति से नहीं है अपितु उन सभी साधनों से हैं, जिनसे मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। काम से आशय केवल यौन संतुष्टि नहीं है अपितु सांस्कृतिक दृष्टि से जीवन का, जीवन के आनंद का उपभोग भी है। इन तीनों पुरुषार्थों की प्राप्ति के पश्चात ही मनुष्य द्वारा चौथे पुरुषार्थ-मोक्ष की प्राप्ति हेतु प्रयत्न किया जा सकता है। मोक्ष का तात्पर्य पूर्ण संतुष्टि से लिया जा सकता है। इस स्थिति में मनुष्य ब्रह्म की अनुभूति और परम आनंद को प्राप्त करता है तथा वह जीवन-मरण के बंधनों से मुक्त हो जाता है।
2. **कर्म तथा पुनर्जन्म-** भारतीय समाज के आधार के रूप में कर्म सिद्धांत महत्वपूर्ण है। कर्म सिद्धांत में मनुष्य को संसार में रहते हुए फल की इच्छा किए बिना कर्म करतेरहने के विचार पर अर्थात जिम्मेदारियों का वहन करने पर ज़ोर दिया गया है। इसके द्वारा मनुष्य में नैतिक दायित्व की भावना विकसित की जाती है। इसके लिए मनुष्य सजग रहे और अपने दायित्वों का निर्वहन करता रहे, इसके हेतु इसे एक अन्य धारणा से मजबूती प्रदान की गई। और पुनर्जन्म की अवधारणा पर ज़ोर दिया गया। पुनर्जन्मको अवधारणा के अनुसार आज मनुष्य जो भी है गरीब-अमीर, सुखी-दुखी आदि यह सब उसके पूर्व के जन्म में किए गए कर्मों का फल है और इस जन्म में किए गए कर्मों का फल उसे अगले जन्म में प्राप्त होगा।
3. **पंच ऋण और यज्ञ-** भारतीय समाज में मनुष्य पर पाँच प्रकार के ऋण की संकल्पना की गई है- देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण, अतिथि ऋण तथा भूत ऋण। मनुष्य के जीवन में जो कुछ भी घटित हुआ है और जो कुछ भी होने वाला है, उसके लिए वह दूसरों का ऋणी है। वह देवताओं, ऋषियों, अतिथियों, माता-पिता तथा पशु-पक्षियों का ऋणी है। इन सभी ऋणों से उऋण होने के लिए उसे पाँच महायज्ञ करने होंगे।
4. **संस्कार-** संस्कार से आशय शुद्धिकरण की प्रक्रिया से है। भारतीय समाज में मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनने, उसके व्यक्तित्व का विकास करने आदि के लिए मनुष्य का शारीरिक, मानसिक व नैतिक परिष्कार आवश्यक माना गया है। प्रमुख रूप से 14 संस्कार माने गए हैं। ये संस्कार मनुष्य के जन्म से पहले ही आरंभ हो जाते हैं और मृत्यु के उपरांत तक संपन्नहोते हैं। इनका उद्देश्य एक विशेष स्थिति और आयु में व्यक्ति को उसके सामाजिक कर्तव्यों का बोध कराना होता है।

II. संगठनात्मक आधार

दार्शनिक आधारों से इतर भारतीय समाज को संगठित करने के लिए कुछ सामाजिक व्यवस्थाओं का निर्माण किया गया है। इन्हें ही संगठनात्मक आधारों के नाम से जाना जाता है। ये आधार अधोलिखित हैं –

1. **वर्ण व्यवस्था-** वर्ण व्यवस्था भारतीय समाज की संगठनात्मक आधारशिला है। यहाँ मनुष्य के गुण और स्वभाव के आधार पर समाज को चार वर्णों- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में वर्गीकृत किया गया है। प्रत्येक वर्ण अधिकार, उत्तरदायित्व और व्यवसाय के आधार पर एक-दूसरे से पृथक अस्तित्व रखते हैं।
2. **आश्रम व्यवस्था-** आश्रम व्यवस्था का प्रयोजन मनुष्य के जीवन को संतुलित और संगठित बनाए रखना है। इस व्यवस्था के अंतर्गत मनुष्य के जीवन का को 100 वर्ष मानकर चार भागों (25-25 वर्ष) में बाँट दिया गया और इसी समयावधि के अनुरूप चार आश्रमों की आधारशिला को प्रतिपादित किया गया है –
    - ब्रह्मचर्य आश्रम
    - गृहस्थ आश्रम
    - वानप्रस्थ आश्रम
    - संन्यास आश्रम
3. **जाति व्यवस्था-**भारतीय समाज की एक महत्वपूर्ण विशेषता के रूप में जाति व्यवस्था का अस्तित्व रहा है। भारतीय समाज हजारों जातीय व उपजातीय समूहों में बँटा हुआ है और इसकी सदस्यता मनुष्य के गुण और स्वभाव पर आधारित न होकर जन्म से संबंधित होती है। कालांतर में भारतीय समाज में गुण और स्वभाव का स्थान जन्म ने ले लिया और इसका परिणाम यह हुआ कि वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था में परिवर्तीत हो गई।
4. **ग्राम पंचायत-** भारत गाँवों का देश है और गाँवों के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में ग्राम पंचायतों का उल्लेखनीय स्थान रहा है। इन्हीं की कार्यप्रणाली के आधार पर भारतीय ग्रामों को लघु गणतंत्र की संज्ञा दी गई है। भारत में ग्राम पंचायतें न केवल प्रशासन की, बल्कि अर्थ-व्यवस्था का भी आधार रही हैं।
5. **संयुक्त परिवार-** भारतीय समाज के परंपरागत आधार के रूप में संयुक्त परिवार का विशिष्ट स्थान रहा है। मैक्समूलर ने इसे भारत की 'आदि परंपरा' के रूप में माना है, जो सदियों से भारतीयों को विरासत के रूप में हस्तांतरित होता रहा है। संयुक्त परिवार उन लोगों का समूह है, जो साधारणतः एक ही मकान में साथ-साथ रहते हैं, एक ही रसोई में पका हुआ भोजन ग्रहण करते हैं, परिवार की आय का सभी सम्मिलित रूप से उपभोग

करते हैं, संपत्ति पर सभी का समान अधिकार होता है तथा सामान्य पूजा या धार्मिक क्रियाओं में सभी भाग लेते हैं।

6. **धार्मिक संस्कार के रूप में विवाह का महत्व-** भारतीय समाज में गृहस्थ आश्रम में प्रवेश हेतु विवाह अनिवार्य शर्त के रूप में मानी जाती है। विवाह को जन्म-जन्मांतर के संबंध के रूप में व्याख्यायित किया जाता है। विवाह द्वारा मनुष्य को कर्तव्य बोध कराने पारिवारिक जीवन को स्थिरता व सामाजिक जीवन को सुदृढ़ता प्रदान करने का सफल प्रयत्न किया गया है।
7. **प्राचीन एवं स्थायित्व-** भारतीय समाज विश्व के प्राचीनतम समाजों में से एक है। समय के साथ-साथ विश्व की प्राचीन संस्कृतियाँ नष्ट होती चली गई। मिस्र की प्रचीन संस्कृति में विशाल पिरामिडों का निर्माण किया जाता था और पितरों की ममी बना कर रखने का रिवाज था, परंतु आज ये सब इतिहास बन कर रह गया है। प्राचीन रोमन और यूनानी धर्मों का आज कोई अनुयाई नहीं है और न ही उनके विचारों से आज कोई प्रभावित मालूम पड़ता है। हजारों वर्षों के उपरांत भी भारत की आदि संस्कृति व समाज व्यवस्था आज भी जीवित अवस्था में है।
8. **अनुकूलनशीलता-** भारतीय समाज की प्राचीनता और स्थायित्व का श्रेय उसकी अनुकूलनशीलता को जाता है। इसमें समय के साथ परिवर्तित होने की विलक्षण क्षमता होती है। भारतीय परिवार, जाति, धर्म और अनेक संस्थाएँ समय के साथ-साथ स्वयं में परिवर्तन करती रही हैं।
9. **आध्यात्मवाद-** भारतीय समाज में अध्यात्मवाद का स्थान उल्लेखनीय है। यहाँ भौतिक सुख और भोग-विलास के स्थान पर आत्मा और ईश्वर के महत्व को प्राथमिकता दी गई है। इसमें भोग और त्याग का अद्वितीय समन्वय पाया जाता है। अध्यात्मवाद ने ही सहिष्णुता की प्रवृत्ति को सृजित किया है।
10. **सहिष्णुता-** यह भारतीय समाज की एक महान विशेषता है। यहाँ सभी धर्मों, जातियों, प्रजातियों व संप्रदायों के प्रति उदारता, सहिष्णुता व प्रेम-भाव पाया जाता है। यहाँ समय-समय पर अनेक संस्कृतियों का आवागमन हुआ और सभी को यहाँ अपने फ़लक का विस्तार करने का पूर्ण अवसर प्रदान किया गया। यहाँ पर ना ही किसी संस्कृति का दमन किया गया और ना ही किसी समूह पर यहाँ की संस्कृति थोपी गई। यहाँ अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक की संस्कृतियाँ समान रूप से विद्यमान हैं।
11. **धर्म की प्रधानता-** भारतीय समाज धर्म-प्रधान समाज है। यहाँ मनुष्य के व्यवहार, आचार-विचार, रहन-सहन आदि को धर्म द्वारा निर्देशित व नियंत्रित किया जाता है।

मनुष्य अपने जन्म से मृत्युपर्यंत तथा सूर्योदय से सूर्यास्त तक प्रतिदिन व वार्षिक जीवन में विभिन्न धार्मिक क्रियाकलापों को संपन्न करता है।

12. **समन्वय-** भारतीय समाज में विभिन्न संस्कृतियों के समन्वय का भाव पाया जाता है। हिंदू, मुस्लिम, ईसाई, शक, सिथियन, जनजातीय आदि संस्कृतियों के प्रभाव से भारतीय संस्कृति नष्ट नहीं हुई, अपितु इससे समन्वय और एकता के भाव में ही बढ़ोतरी हुई है। भारतीय समाज में आकार सभी संस्कृतियों ने भारतीय रूप अख़्तियार कर लिया।
13. **अनेकता में एकता-** भारतीय समाज में प्रजाति, जाति, धर्म, संप्रदाय, संस्कृति, भाषा आदि के आधार पर काफ़ी विविधता पाई जाती है। इसके बावजूद संपूर्ण भारत में एकता के दर्शन होते हैं। इस संबंध में रिजले का कथन है, *"भारत में धर्म, रीति-रिवाज और भाषा व सामाजिक और भौतिक विभिन्नताओं के होते हुए भी जीवन की एक विशेष एकरूपता कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक देखी जा सकती है। वास्तव में भारत का एक अलग चरित्र एवं व्यक्तित्व है, जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती।"*
14. **सर्वांगीणता-** भारतीय समाज का संबंध किसी जाति, धर्म अथवा संप्रदाय से नहीं है बल्कि समाज के सभी पहलुओं से हैं और इसकी निर्मिति में राजा-प्रजा, किसान, मज़दूर, ब्राह्मण-शूद्र, शिक्षित-अशिक्षित, देशी-विदेशी आदि सभी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

1.5 भारतीय समाज का वर्गीकरण

भारतीय समाज को मूल रूप से दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है –

I. परंपरागत समाज
II. आधुनिक समाज

I. परंपरागत समाज

परंपरागत समाज में व्यवहार संबंधी मूल्यों व प्रतिमानों में धर्म और जादू को महत्व दिया जाता है। भारतीय आदर्श के अनुसार मनुष्य और समाज का पारस्परिक संबंध एकदूसरे पर निर्भरता वलेन-देन अर्थात विनिमय का संबंध होता है। पहले के बिना दूसरे का कोई अर्थ नहीं है। समाज कुछ आदर्श मनुष्यों के लिए उपलब्ध कराता है और मनुष्य को उसी के अनुरूप आचरण करना होता है और ऐसा करने से वह समाज की सार्थकता को और सुदृढ़ करता है। परंपरागत भारतीय समाज में परिवर्तन की गति तुलनात्मक रूप से अत्यंत धीमी थी, जिसके कारण सामाजिक जीवन में उनके प्रभाव स्थायी एवं स्पष्ट प्रकृति के थे। परंपरागत समाज पवित्र, अपवित्र की धारणा भोज, बलि, कर्मकांड आदि को स्वीकार करता है। सामान्य तौर पर परंपरागत समाज में निम्न विशेषताएँ होती हैं –

i. पौराणिक और काल्पनिक विचारों (तार्किक विचारों की अनुपस्थिति) की प्रधानता होती है।

ii. मनुष्य के लिए उसकी प्रस्थिति का निर्धारण जन्म के आधार पर होता है और उसमें सामाजिक गतिशीलता का कोई प्रश्न नहीं होता है।

iii. मनुष्य के व्यवहार अतीत की गहराइयों से जुड़े मूल्यों, प्रतिमानों, रीति-रिवाजों आदि द्वारा संचालित होते हैं।

iv. नातेदारी समूहों की अंतक्रिया में प्रमुखता होती है और मनुष्य अपनी पहचान प्राथमिक समूहों के माध्यम से व्यक्त करता है।

v. व्यक्ति रूढ़िवादी होते हैं।

vi. सामाजिक संगठन का आधार श्रेणीक्रम होता है।

vii. सामाजिक समूहों में पद की जगह पर व्यक्ति को तुलनात्मक रूप से अधिक महत्व प्रदान किया जाता है।

viii. परंपरागत समाज में सरल अर्थव्यवस्था होती है, दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यहाँ यांत्रिक अर्थव्यवस्था का बोलबाला था।

परंपरागत (हिंदू) समाज में निम्न प्रकार के सिद्धांत व मत पाए जाते थे, जिन्हें परंपरागत समाजों का आधार माना जा सकता है –

1. वर्ण आश्रम
2. आश्रम व्यवस्था
3. कर्म एवं पुनर्जन्म
4. संस्कार
5. पुरुषार्थ
6. ऋण और यज्ञ
7. पौराणिक गाथाएँ और प्रतीक
8. जाति प्रथा
9. संयुक्त परिवार
10. विवाह
11. ग्राम पंचायत
12. लोकातीतत्व
13. उच्च आदर्श
14. सहिष्णुता
15. साम्य और स्वतंत्रता
16. पृथकता

ज्ञान शांति मैत्री

II. आधुनिक समाज

परिवर्तन एक प्राकृतिक व निरंतर चलायमान प्रक्रिया है। समय के साथ-साथ समाजों में भी परिवर्तन आ जाता हैं। तथा उसके मूल्यों, प्रतिमानों, आचरण आदि में परिवर्तन आता हैं। वर्ण व्यवस्था आज प्रासंगिक नहीं है। जाति व्यवस्था भी आज टूटती हुई नज़र आ रही है। पुरुषार्थ और संस्कार आज केवल आदर्श की बातों के रूप में ही रह चुके हैं। इसलिए आज भारतीय समाज का आधार भी परिवर्तित हो चुका है, वह अब परंपरागत न होकर आधुनिक हो चुका है। भारतीय समाज के आधुनिक आधार निम्नलिखित हैं

1. वर्ग व्यवस्था
2. पश्चिमीकरण
3. संस्कृतिकरण
4. लौकिकीकरण
5. आधुनिकीकरण
6. औद्योगीकरण व नगरीकरण
7. एकाकी परिवारों में बढ़ोतरी
8. वैश्वीकरण
9. उदारीकरण और निजीकरण
10. बढ़ता हुआ औपचारिक नियंत्रण
11. बढ़ती हुई सामाजिक गतिशीलता
12. समानता, भ्रातृत्व एवं स्वतंत्रता संबंधी मूल्यों का फैलाव

ज्ञान शांति मैत्री

1.6 भारतीय समाज का स्तरीकरण

सामाजिक स्तरीकरण वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा संपूर्ण समाजिक व्यवस्था विभिन्न स्तरों में विभाजित होती है। इन स्तरों को उच्चता और निम्नता के आधार पर विभेदित किया जाता है और इनके आधार पर उनके अधिकारों और कर्तव्यों में पर्याप्त अंतर आ जाता है। सरलरूप में, सामाजिक स्तरीकरण समाज को धन-संपत्ति, पद-प्रतिष्ठा व शक्ति के आधार पर अलग-अलग स्तरों में विभाजित कर देती है। सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख रूप निम्न हैं–

1. जातिगत स्तरीकरण

भारतीय समाज में जाति व्यवस्था स्तरीकरण का एक प्रमुख स्वरूप है। यह एक अंतर्विवाही समूह होता है, जिसकी सदस्यता जन्म द्वारा निर्धारित होती है। इस संबंध में एडब्ल्यू. ग्रीन ने अपने विचार व्यक्त किए हैं, *"जाति, स्तरीकरण की एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें गतिशीलता, सामाजिक स्थितियों के संस्तरण में ऊपर-नीचे जाना कम से कम वैचारिक दृष्टि से संभव नहीं। एक व्यक्ति की जन्म से प्राप्त स्थिति उसकी आजीवन की स्थिति होती है। जन्म व्यक्ति के व्यवसाय, निवास स्थान, जीवन पद्धति तथा उस समूह का निर्धारण करता है , जिसमें उसे विवाह संबंध स्थापित करना है। एक जाति व्यवस्था में यह विचार सदैव शामिल होता है कि निम्न जाति का शारीरिक अथवा किसी प्रकार का संपर्क उच्च जाति को दूषित करने वाला होता है। जाति प्रथा, कानून द्वारा रक्षित और धर्म द्वारा स्वीकृत होती है।"*

जातिगत स्तरीकरण की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं –

- यह जन्मजात होता है।
- इसमें व्यवसाय पूर्व-निर्धारित होता है।
- इसमें खान-पान संबंधी कुछ निषेधनियम होते हैं।
- इसमें उँच-नीच व छुआछूत के नियम होते हैं।
- इसमें बंद स्तरीकरण पाया जाता है।
- यह अंतर्विवाही होता है।
- किसी भी स्थान पर विभिन्न जातियों की सापेक्षिक प्रतिष्ठा पूर्ण रूप से स्थापित है तथा साथ ही ईर्ष्या से परिपूर्ण है।
- जातिगत सदस्यता की चेतना को जातीय नामों के धारण करने से और भी अधिक बल मिलता है।

2. वर्ग आधारित स्तरीकरण

भारतीय समाजों में स्तरीकरण का एक उभरता हुआ आधार है। यह व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जिनकी प्रस्थिति समान होती है। मैकाइवर के अनुसार, *"एक सामाजिक वर्ग सामाजिक स्थिति के आधार पर दूसरे लोगों से पृथक किए गए समुदाय का एक भाग है।'*

वर्गगत स्तरीकरण की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं–

- वर्ग की सदस्यता प्रस्थिति, जीवन के स्तर आदि से संबंधितहोती है।
- वर्गों में सामाजिक दूरी अत्यधिक नहीं होती।

- वर्ग के सदस्यों में वर्गीय चेतना विद्यमान होती है।
- वर्गों में मुक्त स्तरीकरण होता है।

3. लिंग आधारित स्तरीकरण

अधिकतर समाजों में स्त्री-पुरुष की सामाजिक स्थिति एक समान नहीं होती और इस आधार पर स्तरीकरण परिलक्षित होता है। हालांकि इस प्रकार के स्तरीकरण का आधुनिक समाजों में लोप हो रहा है।

4. आयु आधारित स्तरीकरण

लगभग प्रत्येक समाज कमोबेश रूप में आयु आधारित स्तरीकरण पाया जाता है। इस आधार पर व्यक्ति के कार्यों, उत्तरदायित्वों, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि में अंतर किया जा सकता है और इस प्रकार का स्तरीकरण विभिन्न आयु में अलग दिखाई पड़ता है।

1.7 सारांश

भारतीय समाज विश्व के विभिन्न समाजों से एक पृथक छवि के रूप में अपनी स्थिति स्थापित करता है। इसकी संस्कृति और परंपराएँ प्राचीनतम संस्कृति के रूप में विद्यमान हैं। भारतीय समाजों में विविधता के रूप में विभिन्न जातियाँ, जनजातियाँ, विविध धर्म, संप्रदाय, विविध भाषाएँ आदि विद्यमान हैं, परंतु इनके बावजूद संपूर्ण भारत में एकीकरण की भावना प्रबल है। इस इकाई में भारतीय समाज की संरचना, विशेषता, वर्गीकरण और स्तरीकरण जैसे मुद्दों पर प्रकाश डाला गया है।

1.8 बोध प्रश्न

प्रश्न 1: भारतीय समाज का विवरण प्रस्तुत कीजिए।

प्रश्न 2: भारतीय समाज की संरचना और उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 3: भारतीय समाज के वर्गीकरण को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 4: भारतीय समाज में स्तरीकरण के विभिन्न रूपों का विवरण प्रस्तुत कीजिए।

1.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

बोटोमोर, टी.बी. (1969). *सोशियोलॉजी: अ गाइड टू प्रॉवलम एंड लिट्रेचर* लंदन: एलेन एंड अनविन।

शर्मा, के.एल. (2008). *इंडियन सोशल स्ट्रक्चर एण्ड चेंज.* जयपुर: रावत पब्लिकेशन।

चन्द्र, स.श. (2002). *भारतीय सामाजिक संरचना.* नई दिल्ली: कनिष्का पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स।

महाजन, डी. (2008). *प्रारंभिक समाजशास्त्र*. नई दिल्ली: अर्जुन पब्लिशिंग हाउस।

पाण्डेय, ग. (2008). *भारतीय समाज.* नई दिल्ली: राधा प्रकाशन।

सिंधी, न.क. एवं गोस्वामी, व. (2002). *समाजशास्त्र विवेचन.* जयपुर: राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी।
दूबे, एस.सी. (2005). *इंडियन सोसाइटी.* नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट।

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई 2
सामाजिक समूह, सामाजिक संस्थाएं और सामाजिक नियंत्रण

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 सामाजिक समूह: अर्थ एवं परिभाषाएँ
2.3 सामाजिक समूह की विशेषताएँ
2.4 सामाजिक समूहों के प्रकार
2.5 प्राथमिक समूह
2.6 द्वितीयक समूह
2.7 प्राथमिक समूह और द्वितीयक समूह में अंतर
2.8 सामाजिक संस्थाएं: अर्थ एवं परिभाषाएँ
2.9 सामाजिक संस्था की विशेषताएँ
2.10 सामाजिक नियंत्रण: अर्थ एवं परिभाषाएँ
2.11 सामाजिक नियंत्रण की विशेषताएँ
2.12 सामाजिक नियंत्रण के स्वरूप
2.13 सारांश
2.14 बोध प्रश्न
2.15 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

ज्ञान शांति मैत्री

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप –

- सामाजिक समूह के अर्थ, परिभाषा, विशेषता एवं प्रकार को रेखांकित कर सकेंगे।
- सामाजिक संस्था के अर्थ और उसकी विशेषताओं के बारे में जानकारी प्राप्तकर सकेंगे।
- सामाजिक नियंत्रण के अर्थ, परिभाषा, विशेषता एवं स्वरूप की जानकारी प्राप्त करेंगे।

2.1 प्रस्तावना

मनुष्य का जन्म एक जैविक प्राणी के रूप में होता है और वह समाज के संपर्क में आने से ही एक सामाजिक प्राणी के रूप में परिणत हो पाता है। समाज में उसे अनेक प्रकार की प्रणालियों और कार्यविधियों से दो-चार होना पड़ता है। वह किसी-न-किसी समूह का सदस्य होता है, उसे अपनी

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संस्था का उपयोग करना होता है। समाज द्वारा बनाए गए मूल्य एवं मानदंडों को सुचारु रूप से क्रियान्वित रखने के लिए व्यक्ति पर नियंत्रण लगाया जाता है जिससे प्रत्येक व्यक्ति प्रभावित होता है।

2.2 सामाजिक समूह: अर्थ एवं परिभाषाएँ

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और इस नाते वह अपना जीवन समूह में रहकर व्यतीत करता है। उसके अपने जीवन काल में अनेक प्रक्रियाएँ घटित होती रहती है, जिन्हें वह प्रभावित करता है और उनसे स्वयं भी प्रभावित होता है। उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य व्यक्तियोंपर निर्भर रहना पड़ता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य को अनेक समूहों में सदस्य के रूप में रहना आवश्यक होता है। उदाहरणस्वरूप- परिवार, क्रीड़ा-समूह, जाति, मित्र-समूह आदि।

सामान्य तौर पर समूह का अर्थ व्यक्तियों के झुंड से लगाया जाता है यथा-खेल के मैदान में, बाजार में भीड़ आदि, परंतु उन्हें सामाजिक समूह की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसका कारण यह है कि उन व्यक्तियों में सामाजिक संबंधों और चेतना का अभाव होता है। चेतना के अभाव में पारस्परिक संबंधों का सृजन होना संभव नहीं है। सामाजिक समूह के लिए अंतःक्रिया औरसंचार का होना अत्यंत आवश्यक है। उदाहरणस्वरूप, बाजार में बहुत से लोग घूमते रहते हैं, परंतु उन्हें सामाजिक समूह की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि उनके बीच किसी प्रकार की अंत:क्रिया नहीं हो रही है। मान लें कि बाजार में किसी दुकान को लूट लिया गया अथवा उसमें आग लग गई, तो बाजार में उपस्थित लोग आपस में अंतःक्रिया करने लगते हैं। इससे उनमें सामाजिक संबंध का जन्म होता है। अब इसे सामाजिक समूह कहा जासकता है, भले उसकी प्रकृति अस्थायी ही क्यों न हो।

एडवर्ड सपीर के अनुसार *"किसी समूह का निर्माण इस तथ्य पर आधारित होता है कि कोई स्वार्थ समूह के सदस्यों को आपस में बांधे रखता है।"*

इस परिभाषा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समूह की कुछ अनिवार्य विशेषताएँ होतीहैं –

- दो अथवा उससे अधिक व्यक्ति
- पारस्परिक जागरूकता
- लक्ष्य और स्वार्थ
- ऐच्छिक सदस्यता
- अस्थाई

1. **मैकाइवर और पेज-** *"समूह से हमारा तात्पर्य व्यक्तियों के ऐसे संग्रह से है जो एक-दूसरे के साथ सामाजिक संबंध स्थापित करते हैं।"*

2. **बोटोमोर-** *"सामाजिक समूह व्यक्तियों के उस योग को कहते हैं, जिसमें विभिन्न व्यक्तियों के मध्य निश्चित संबंध होते हैं और प्रत्येक व्यक्ति, समूह के प्रति और उसके प्रतीकों के प्रति गंभीर होता है। अन्य शब्दों में, एक सामाजिक समूह में कम-से-कम अल्पविकसित संरचना और संगठन (नियमों और संस्कारों सहित) तथा उसके सदस्यों में चेतना का एक मनोवैज्ञानिक आधार होता है।"*
3. **आगबर्न और निमकॉफ-** *"जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्रित होकर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं, तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं।"*
4. **गिलिन और गिलिन-** *"सामाजिक समूहों के विकास हेतु एक ऐसी अनिवार्य स्थिति होती है जिसमें संबंधित व्यक्तियों में अर्थपूर्ण अंतउत्तेजना और अर्थपूर्ण प्रत्युत्तर संभव हो सके एवं, जिसमें उन सबका ध्यान सामान्य उत्तेजकों अथवा हितों पर टीका रहे और सामान्य चालकों, प्रेरकों व संवेगों का विकास हो सके।"*
5. **एल्ड्रिज और मैरिल-** *"सामाजिक समूह की परिभाषा ऐसे दो या दो से अधिक व्यक्तियों के रूप में की जा सकती है, जिनमेंपर्याप्त अवधि या समय से संचार है और , जो किसी सामान्य कार्य या प्रयोजन के अनुसार काम करें।"*
6. **बोगार्डस-** *"एक सामाजिक समूह का अर्थ हम, दो या दो से अधिक व्यक्तियों के ऐसे संग्रह से लगा सकते हैं, जिनके ध्यान के कुछ सामान्य लक्ष्य होते हैं, जो एक-दूसरे को प्रेरणा देते हैं जिनमेंसामान्य वफादारी पाई जाती है और जो सामान्य क्रियाओं में भाग लेतेहैं।"*

उपर्युक्त परिभाषाओं के आलोक में यह कहा जा सकता है कि जब दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी लक्ष्य अथवा उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अंतःक्रिया करते हैं और इसके परिणामस्वरूप उनके बीच सामाजिक संबंधों का जन्म होता हैं तो उन व्यक्तियों के संग्रह को सामाजिक समूह कहा जा सकता है। इस आधार पर समूह के मूल रूप से निम्न चार तत्व हो सकते हैं–

- दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियों का संग्रह।
- उनमें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष संबंधों की उपलब्धता।
- उनकी क्रियाओं का आधार सामान्य हित अथवा उद्देश्य का होना।
- एक निश्चित संगठन अथवा संरचनाका होना।

परिभाषाओं से यह भी स्पष्ट होता है कि सामाजिक समूह केवल व्यक्तियों का संग्रह मात्र ही नहीं है। इन व्यक्तियों के मध्य पारस्परिक संबंधों का होना आवश्यक है। अतः यह कहा जा सकता है कि जिस समय दो अथवा दो से अधिक व्यक्ति किन्हीं समान उद्देश्यों अथवा लाभों की पूर्ति हेतु परस्पर संबंधों की स्थापना करते हैं और अपने व्यवहार द्वारा एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं, तो उसे सामाजिक समूह की संज्ञा दी जाती है। वास्तव में यह उन लोगों का झुंड है जो आपस में किसी- न-किसी प्रकार की अंतःक्रिया करते हैं और इसलिए वे आपस में जुड़े हुए अनुभव करते हैं।

2.3 सामाजिक समूह की विशेषताएँ

सामाजिक समूह की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

i. समूह व्यक्तियों का संग्रह है।

ii. प्रत्येक समूह की अपनी सामाजिक संरचना होती है। प्रत्येक समूह में आयु लिंग, जाति आदि के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण पाया जाता है।

iii. समूह में कार्यात्मक विभाजन पाया जाता है। उदाहरणस्वरूप, संस्थान में संलग्न कर्मचारियों की अपनी अलग-अलग भूमिकाएँ होती हैं और वे उनके प्रति जवाबदेह होते हैं।

iv. समूह में सामान्य स्वार्थ की भावना पाई जाती है।

v. समूह विशेष की सदस्यता ऐच्छिक होती है। यह बात परिवार जैसे समूह को छोडकर अन्य सभी समूहों पर लागू होती है।

vi. प्रत्येक समूह की अपनी विशिष्ट सत्ता होती है। समूह का आधार सामूहिक व्यवहार होते हैं। समूह के सामने व्यक्ति का अस्तित्व न्यून आँका जाता है और व्यक्ति, समूह के प्रति श्रद्धा और विश्वास की भावना रखता है। अतः वह समूह के नियमों की अवहेलना करने से डरता है।

vii. समूह के कुछ आदर्श और नियम होते हैं, जो समूह में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन्हीं के कारण समूह के सदस्यों के व्यवहारों में एकरूपता बनी रहती है।

viii. समूह एक मूर्त सामाजिक संगठन है क्योंकि यह समान उद्देश्यों व लक्ष्यों वाले व्यक्तियों का संकलन है।

2.4 सामाजिक समूहों के प्रकार

विद्वानों द्वारा सामाजिक समूहों का वर्गीकरण भिन्न आधारों पर किया गया है। कुछ विद्वानों द्वारा किए गए वर्गीकरण निम्नानुसार हैं–

1. **मैकाइवर और पेज-** समूह के वर्गीकरण में मैकाइवर और पेज ने निम्न तत्वों को प्राथमिकता दी हैं –

   i. घनिष्ठता की मात्रा

   ii. आकार

   iii. समूहों के स्वार्थ तथा इन स्वार्थ की अवधि

   iv. समूहों के संगठन

   इन्हीं तत्वों के आधार पर उन्होनें समस्त सामाजिक समूहों को तीन भागों में विभाजित किया हैं–

   - **क्षेत्रीय समूह**, जिनका एक निश्चित भौगोलिक आवासीय क्षेत्र होता है।

- हितों के प्रति चेतन समूह, जिसका निश्चित संगठन नहीं होता है।
- हितों के प्रति चेतन समूह, जिसका निश्चित संगठन होता है।

2. **चार्ल्स एच. कूले-** कूले ने समूह को मुख्य रूप से, दो प्रकारों में वर्गीकृत किया है –
   - प्राथमिक समूह
   - द्वितीयक समूह
3. **डबल्यू.जी. समनर-** समनर ने समूह के सदस्यों में घनिष्ठता व सामाजिक दूरी के आधार पर समस्त समूहों को निम्नलिखित दो प्रकारों में विभाजित किया है –
   - **अंत:समूह-** इस समूह के सदस्यों में 'हम की भावना' पाई जाती हैं । वे समूह के सुख को अपना सुख तथा दुख को अपना दुख मानते हैं।
   - **बाह्य समूह-** इस समूह में जो गुण पाए जाते हैं, वे अंत:समूह से विपरीत होते हैं। इसमें दूसरे समूह की भावना का समावेश होता है। इस कारण समूह के प्रति सहानुभूति, स्नेह आदि का सर्वथा अभाव होता है।
4. **बोगार्डस-** बोगार्डस ने समूहों को निम्न छह भागों में वर्गीकृत किया है –
   - अनौपचारिक, औपचारिक और प्रशासकीय
   - ऐच्छिक और अनैच्छिक
   - जननिक और समूहीकृत
   - प्राथमिक और द्वितीयक
   - विभाजनकारी अथवा अतिक्रमणकारी
   - सामाजिक, अर्द्धसामाजिक, असामाजिक, समाज के पक्ष में और समाजीकृत
5. **गिडिन्स-** गिडिन्स ने सामाजिक समूह को मूल रूप से चार प्रकार से विभाजित किया है–
   - **जननिक समूह-** इनकी सदस्यता जन्म से प्राप्त होती है। जैसे- परिवार।
   - **इकट्ठे समूह-** इनकी सदस्यता ऐच्छिक होती है। जैसे- मित्र।
   - **वियोजक समूह-** यह अन्य समूहों की सदस्यता की अनुमति नहीं देता। जैसे- देश।
   - **सम्मिश्रित समूह-** यह अन्य समूहों की सदस्यता की अनुमति देता है। जैसे- मित्र-मंडली।
6. **एच. मिलर-** मिलर ने समूह के मध्य स्थित सामाजिक दूरी के आधार पर सामाजिक समूहों को दो श्रेणियों में विभाजित किया है –
   - **ऊर्ध्वाधर समूह-** इनका आकार अपेक्षाकृत छोटा होता है। जैसे-मालिक और नौकर।

- **क्षैतिज समूह-** इनका आकार बड़ा होता है। जैसे- मित्र मंडली।

7. **जॉर्ज हासन-** हासन ने सामाजिक समूहों को चार प्रकारों में विभाजित किया है–
   - **असामाजिक समूह-**यह समूह समाज के मूल्यों आदर्शों, अपेक्षाओं आदि से परे रहता है। जैसे- साधुओं का समूह।
   - **आभासी सामाजिक समूह-** यह समूह अपने हितों के लिए सामाजिक जीवन में भाग लेता है। यह ऐसा आभास कराते हैं जैसे सार्वजनिक हित के लिए काम कर रहे हैं। जैसे- राजनैतिक दल।
   - **समाज विरोधी समूह-** इस समूह की गतिविधियां समाज विरोधी होती हैं। जैसे- गैंग।
   - **समाज समर्थक समूह-** यह समूह समाज के लाभ के लिए सक्रिय रहता है। जैसे- गैर-सरकारी संगठन।
8. **एलवुड-** एलवुड ने सामाजिक समूह को निम्न दो प्रकारों में विभाजित किया है–
   - स्वीकृत समूह
   - अस्वीकृत समूह
9. **गिलिन और गिलिन-** इनहोंने समूह को निम्नांकित चार प्रकारों में बांटा है–
   - नातेदारी या रक्त संबंधी समूह
   - शारीरिक विशेषताओं वाला समूह
   - स्थानीय निकटता पर आधारित समूह
   - सांस्कृतिक हितों पर आधारित समूह
10. **जॉर्ज सिमेल-** सिमेल ने आकार के आधार पर समूह को निम्न तीन रूपों में विभाजित किया है–
    - एकल समूह
    - द्वैत समूह
    - त्रैत समूह
11. **सैंडरसन-** सैंडरसन ने सामाजिक समूह को निम्न तीन प्रकार में बांटा है–
    - अनैच्छिक समूह
    - ऐच्छिक समूह
    - प्रातिनिधिक समूह

12. टोनीज़- टोनीज़ ने समूह को दो प्रकार में वर्गीकृत किया है –

- गमाइनशाफ्ट (सामुदायिक संबंध)
- गेसलशाफ्ट (सामितिय/समितिय संबंध)

13. लियोपोड- इन्होंनें समूह को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है –

- भीड़
- समूह
- अमूर्त संग्रह

14. रॉबर्ट बिरस्टीड- बिरस्टीड समूह को निम्न चार श्रेणियों में विभाजित करते हैं –

- सांख्यिकीय समूह
- समाजीय समूह
- सामाजिक समूह
- सहचारी समूह

15. पार्क एवं बर्गेस- इन्होंने समूह को निम्न दो प्रकार में विभाजित किया है –

- प्रादेशिक समूह
- गैर- प्रादेशिक समूह

ज्ञान शांति मैत्री

2.5 प्राथमिक समूह

चार्ल्स कूले ने सन् 1909 में अपनी पुस्तक *'Social Organization'* में प्राथमिक समूह की अवधारणा का प्रयोग किया है। मानव के जीवन में स्नेह, प्रेम, सहानुभूति आदि भाव महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ऐसे गुणों के कारण समाज के संगठन को स्थायित्व प्राप्त होता है। मानव जब परिवार के संपर्क में आता है, तब वह सामाजिक प्राणी बनता है।

कूले ने प्राथमिक समूह की निम्न विशेषताएँ प्रस्तुत की हैं–

1) छोटा आकार
2) आमने-सामने का घनिष्ठ संबंध
3) 'हम की भावना' या एकता
4) स्वार्थपरकता का अभाव
5) उद्देश्यों में समानता

6) वैयक्तिक तथा स्वाभाविक संबंध
7) संबंध स्वयं साध्य

उदाहरणस्वरूप, कूले ने तीन समूह परिवार, पड़ोस (नगरिया पड़ोस को छोडकर) और क्रीडा समूह को प्राथमिक समूह के अंतर्गत शामिल किया है।

2.6 द्वितीयक समूह

कूले ने अपनी दूसरी कृति *'Introductory Sociology'* में द्वितीयक समूह का वर्णन किया है। व्यक्ति अपनी अधिकतर आवश्यकताओं की पूर्ति द्वितीयक समूह में ही करता है। ऐसे समूहों में भावनात्मकता उष्णता, घनिष्ठता का अभाव होता है। इस प्रकार के समूह आपस में मात्र स्वार्थवश एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। उदाहरणस्वरुप, कार्यालय के सहकर्मी, कॉलेज मित्र आदि।

द्वितीयक समूह की निम्न विशेषताएँ होती हैं –

1) बृहत आकार
2) अवैयक्तिक तथा अस्थाई संबंध
3) पारस्परिक निर्भरता
4) ऐच्छिक सदस्यता

2.7 प्राथमिक समूह और द्वितीयक समूह में अंतर

प्राथमिक और द्वितीयक समूहों के मध्य प्रमुख अंतर अधोलिखित हैं–

1) प्राथमिक समूह का आकार द्वितीयक समूह की अपेक्षा छोटा होता है।
2) प्राथमिक समूह सामान्यत: सरल समाजों की विशेषता होती है, जबकि द्वितीयक समूह जटिल समाजों की।
3) प्राथमिक समूह में आमने-सामने के वैषयिक व घनिष्ठ संबंध पाए जाते हैं और इनमें 'हम की भावना' पाई जाती है, जबकि द्वितीयक समूह में अप्रत्यक्ष व अवैयक्तिक संबंधपाए जाते हैं और इनमें 'वे की भावना' पाई जाती है।
4) प्राथमिक समूह में उद्देश्यों की समानता होती है, जबकि द्वितीयक समूहों में उद्देश्य विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं।
5) प्राथमिक समूह में सामूहिकता का भाव पाया जाता है, जबकि द्वितीयक समूह में व्यक्तिवादिता की भावना का समावेश होता है।
6) प्राथमिक समूह में स्वार्थ अथवा हित का लोप होता है, जबकि द्वैतीयक समूहों में स्वार्थ और हितों को प्राथमिकता दी जाती है।

7) प्राथमिक समूह में संबंधों का जन्म स्वतः होता है जबकि द्वितीयक समूह में संबंधों को कृत्रिम आधार से उत्पन्न किया जाता है।
8) प्राथमिक समूह की सदस्यता अनिवार्य होती है, जबकि द्वितीयक समूह की सदस्यता ऐच्छिक होती है।

2.8 सामाजिक संस्थाएं: अर्थ एवं परिभाषाएँ

मनुष्य ने अपने विभिन्न कार्यों को सुचारु रूप से संपन्नकरने के लिए अनेक तरीकों को अपनाया है। उन कार्यों की पूर्ति के लिए उसने कई विधियों, नियमों और कार्य प्रणालियों को विकसित किया। इनमें से जो तरीका अन्य से बेहतर सिद्ध होगा, उसे ही 'संस्था' कहा जाता है। संस्था समाज द्वारा मान्य होती है। संस्थाएँ वे उपकरण या कार्य प्रणालियाँ हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति, समितियां अथवा संगठन अपने उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं।

1. **ऑगबर्न और निमकॉफ-** *"सामाजिक संस्थाएँ कुछ आधारभूत मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए संगठित एवं स्थापित प्रणालियों को कहते हैं।"*
2. **बोगार्डस-** *"सामाजिक संस्था समाज की वह संरचना है, जिसको सुस्थापित कार्यविधियों द्वारा व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संगठित किया जाता है।"*
3. **समनर-** *"एक संस्था में एक विचारधारा (विचार, मत, सिद्धांत या हित) और एक ढांचा शामिल होता है।"*
4. **गिलिन और गिलिन-** *"एक सामाजिक संस्था सांस्कृतिक प्रतिमानों (, जिनमेंक्रियाएँ, विचार, मनोवृत्तियाँ तथा सांस्कृतिक उपकरण सम्मिलित हैं) का वह क्रियात्मक स्वरूप है, जिसमें कुछ स्थायित्व होता है और जिसका कार्य सामाजिक आवश्यकताओं को संतुष्ट करना है।"*
5. **मैकाइवर और पेज-** *"संस्थाएं सामूहिक क्रिया की विशेषता बताने वाली कार्यप्रणाली के स्थापित स्वरूप या अवस्था को कहते हैं।"*
6. **वुडवर्ड और मैक्सवेल-** *"एक संस्था लोकरीतियों और रूढ़ियों का समूह होता है जो किसी मानवीय साध्य या उद्देश्य की प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होती है।"*
7. **ग्रीन-** *"एक संस्था अनेक जनरीतियों और रूढ़ियों (प्रायः अधिकतर पर आवश्यक रूप से नहीं) का ऐसा संगठन होता है, जो अनेक सामाजिक कार्य करता है।"*

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि संस्था के कुछ निश्चितउद्देश्य होते हैं और इसी कारणवश वह समाज के लिए लाभकारी होती है। मूल रूप से, संस्था जनरीति, रूढ़ियों, विधियों आदि का एक संगठित रूप होती है, जिसकी एक नियमबद्ध संरचना होती है, कुछ उद्देश्य होते हैं, इसकी निर्भरता मनुष्य की अंतःक्रियाओं पर होती है और उनको नियंत्रित करने के साधन के रूप में यह कार्यरत होती है।

समनर ने संस्थाओं के प्रकार की प्रक्रियाएँ बताई हैं। मनुष्य अपनी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए कई प्रकार से प्रयास करता रहता है, जिनमेंसे एक प्रयास अन्य से बेहतर निकल कर आता है। बेहतर तरीकों को समाज के दूसरेलोगों द्वारा भी अपना लिया जाता है। इस प्रकार वह जनरीति बन जाती है। यही जनरीति पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलने लगती है, जिससे वह प्रथा में परिवर्तित हो जाती है। अगर प्रथा समाज के लिए अत्यंत लाभकारी प्रतीत होती है, तो वह समाज के अन्य सदस्यों के लिए बाध्यकारी हो जाती है जिसे रूढ़ि कहा जाता है। इस रूढ़ि के सुरक्षा या निरंतरता के लिए कुछ नियमों अथवा प्रक्रियाओं को निर्मित किया जाता है, वही संस्थाएं कहलाती हैं।

जनरीति ⟶ प्रथा ⟶ रूढ़ि ⟶ संस्था

2.9 सामाजिक संस्था की विशेषताएँ

सामाजिक संस्था की विभिन्न परिभाषाओं सेइसकी कुछ विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं, जो अधोलिखित हैं –

i. प्रत्येक सामाजिक संस्था का एक निश्चित उद्देश्य होता है, जिसकी पूर्ति के लिए उसका निर्माण किया जाता है।
ii. सामाजिक संस्था का विकास एक लंबे समय के पश्चात होता है।
iii. सामाजिक संस्था के लिए समूहिक अभिनति का होना अत्यंत आवश्यक होता है। इसके कारण उसमें स्थायित्व आता है।
iv. बिना उचित संरचना अथवा ढाँचे के किसी भी सामाजिक संस्था के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती है।
v. सामाजिक संस्था व्यक्ति विशेष के लक्ष्यों को पूरा न करके समूहिक लक्ष्यों को पूरा करती है।
vi. प्रत्येक सामाजिक संस्था के अपने कुछ प्रतीक होते हैं। उसकी प्रकृति भौतिक अथवा अभौतिक हो सकती है।
vii. सामाजिक संस्था व्यक्तियों का समूह न होकर कार्यविधियों की एक व्यवस्था है।
viii. सामाजिक संस्था में अनेक रीतियाँ, प्रथाएँ, जनरीतियाँ और रूढ़ियाँ शामिल होती हैं।

2.10 सामाजिक नियंत्रण: अर्थ एवं परिभाषाएँ

सामाजिक नियंत्रण वह प्रक्रिया है, जिसके अंतर्गत समाज के सदस्यों के उन व्यवहारों का परिसीमन किया जाता है जो सामाजिक नियमों से इतर अस्तित्व रखते हैं। यह मानव स्वभाव और सामाजिक नियमों के असंभव साम्य के असफल प्रयत्नों का परिणाम हैं। सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा हम यह मानने लगते हैं कि सामाजिक नियम हमारे अपने नियम होते हैं। हम सामाजिक नियमों को आत्मसात कर लेते हैं। फिर भी समाज में कुछ ऐसे सदस्य बच जाते हैं, जो समाज तथा अन्य सदस्यों के अस्तित्व के लिए खतरा

उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार के मनमाने व्यवहार को समाज विरुद्ध व्यवहार अथवा विचलित व्यवहार की संज्ञा दी जाती है। इन व्यवहारों पर रोक लगाना ही सामाजिक नियंत्रण कहलाता है।

1. **गिलिन और गिलिन-** *"सामाजिक नियंत्रण तरीकों, अनुनय-विनय, प्रतिरोध, शक्ति आदि से जिस प्रकार से भी हो सके, जिसमें शारीरिक शक्ति का प्रयोग भी शामिल है, की एक व्यवस्था है, , जिसके द्वारा एक समाज एक समूह को मान्यता प्राप्त व्यवहार के प्रतिमानों के अनुरूप बनाता है।"*
2. **मैकाइवर और पेज-** *"सामाजिक नियंत्रण का अर्थ वह रूप है, जिसमें समस्त सामाजिक व्यवस्था स्वयं संयोजित तथा संपोषित होती है और परिवर्तनशील संतुलन के रूप में वह एक समष्टि बनकर कार्यशील होती है।"*
3. **पार्क और बर्गेस-** *"साधारणतया हम सामाजिक नियंत्रण से जो कुछ समझते हैं, वह किसी व्यक्ति का नहीं अपितु संपूर्ण समूह का नियंत्रण है और वह सदैव निरंकुश नहीं होता।'*
4. **रौसेक-** *"सामाजिक नियंत्रण एक सामूहिक अवधारणा है, जो उन नियोजित अथवा अनियोजित प्रक्रियाओं के लिए प्रयोग की जाती है जिनके द्वारा व्यक्ति को समूह के जीवन-मूल्यों तथा कार्य-व्यवहारों के एकरूप होने की शिक्षा दी जाती है, समझाया जाता है या बाध्य किया जाता है।"*
5. **ऑगबर्न और निमकॉफ-** *"व्यवस्था और स्थापित नियमों को बनाए रखने के लिए किसी भी समाज द्वारा डाले गए दबाव के प्रतिमानों को उस समाज की नियंत्रण व्यवस्था कहते हैं।"*
6. **बाटोमोर-** *"सामाजिक नियंत्रण द्वारा व्यक्तियों और समूहों के मध्य के तनावों एवं संघर्षों को दूर अथवा कम किया जाता है। इसका तात्पर्य ऐसे संबंधों से भी है, जिनके माध्यम से उन आदर्शों एवं मूल्यों का संचार किया जाता है, जो कि समाज इवान समूह की सुदृढ़ता बनाए रखने में सहायक हैं।"*

उपर्युक्त विभिन्न परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक नियंत्रण व्यक्तियों को समाज द्वारा स्वीकृत सामूहिक आदर्शों एवं मान्यताओं के अनुरूप व्यवहार करने हेतु बाध्य करने की एक प्रक्रिया है।

2.11 सामाजिक नियंत्रण की विशेषताएँ

सामाजिक नियंत्रण की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं–

i. सामाजिक नियंत्रण एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है।
ii. यह एक सतत चलने वाली प्रक्रिया है।
iii. सामाजिक नियंत्रण चेतन और अचेतन प्रक्रिया है।
iv. सामाजिक नियंत्रण का आधार व्यक्ति या समूह के व्यवहार पर समाज की प्रतिक्रिया है। इसे ही सामाजिक अभिमति कहते हैं। यह सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार की हो सकती है।

v. सामाजिक नियंत्रण तीन स्तरों पर घटित होता है। प्रथम-समूह पर समूह का नियंत्रण, द्वितीय-समूह का अपने सदस्यों पर नियंत्रण और तृतीय-व्यक्तियों का अपने साथियों पर नियंत्रण।

vi. किसी भी समाज में पूर्ण सामाजिक नियंत्रण नहीं होता तथा किसी-न-किसी रूप में विचलन की घटनाएँ होती रहती हैं।

vii. सामाजिक नियंत्रण के लक्ष्य और साधन गत्यात्मक भी होते हैं।

viii. सामाजिक नियंत्रण एक जटिल प्रक्रिया है।

2.12 सामाजिक नियंत्रण के स्वरूप

सामाजिक नियंत्रण को अधिकांश विद्वानों ने निम्न प्रकारों में विभाजित किया है–

1) औपचारिक और अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण

औपचारिक नियंत्रण की स्पष्ट परिभाषा रहती है। यह निश्चित लिखित क़ानूनों द्वारा परिभाषित होता है और व्यक्ति को इसे मानना ही पड़ता है। यदि व्यक्ति ऐसा करता है, तो समाज व्यवस्थित रहता है और ऐसा न करने पर उसे विचारपूर्वक बनाई गई विधियों, राज्य, सरकार आदि द्वारा नियंत्रित किया जाता है। ये सभी नियंत्रण के द्वितीयक और औपचारिक साधन हैं, इसलिए इस प्रकार के नियंत्रण को द्वितीयक नियंत्रण भी कहते हैं।

अनौपचारिक नियंत्रण में चेतन विधियों द्वारा नियंत्रण नहीं किया जाता है। इस प्रकार के नियंत्रण का विकास समूह अपने कल्याण के लिए करता है। यद्यपि इसका विरोध करने पर राज्य द्वारा कोई दंड नहीं दिया जाता है। फिर भी इसमें परिवार और जाती के निष्कासन, समूह को भोज देना, धर्म, रूढ़ि तथा परंपरा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसलिए इसे प्राथमिक नियंत्रण भी कहते हैं।

2) चेतन और अचेतन सामाजिक नियंत्रण

चेतन सामाजिक नियंत्रण को समाज व्यक्ति पर जान-बूझकर लगाता है, यथा- कानून, प्रचार, शिक्षा आदि। यह ऐसी परिस्थितियों से संबंधित है, जिनके प्रत्येक व्यक्ति जागरूक होते हैं। अचेतन सामाजिक नियंत्रण सामाजिक अंतःक्रिया के बीच स्वतः ही विकसित होते हैं। जैसे- धर्म, रूढ़ियाँ, जनरीतियाँ आदि द्वारा किया गया सामाजिक नियंत्रण।

3) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सामाजिक नियंत्रण

कार्ल मैनहिम ने सामाजिक नियंत्रण को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष के रूप में विभाजित किया है। प्राचीन समाजों, प्राथमिक समूहों और जनजातीय समाजों में प्रत्यक्ष सामाजिक नियंत्रण पाया जाता है और यह नियंत्रण निकट के निवासी व्यक्तियों अथवा समूहों (जैसे- परिवार, मित्र मंडली, स्कूल, अध्यापक, पड़ोस आदि) द्वारा लगाया जाता है। अप्रत्यक्ष सामाजिक नियंत्रण द्वितीयक समूहों द्वारा आरोपित किया जाता है। इसमें नियंत्रण का स्रोत व्यक्ति से अत्यंत दूर होता है।

4) सकारात्मक और नकारात्मक सामाजिक नियंत्रण

किम्बल यंग ने सामाजिक नियंत्रण को सकारात्मक और नकारात्मक के रूप में विभाजित किया है। सकारात्मक नियंत्रण के अंतर्गत सामाजिक और व्यक्तिगत पुरस्कार, प्रशंसा, उत्साहवर्धन आदि सम्मिलित होते हैं। इसके विपरीत राज्य, समूह, परिवार, जाति आदि किसी के भी सामाजिक दबाव द्वारा व्यक्ति के अनुचित कार्य करने पर जो दंड अथवा उपेक्षा का व्यवहार किया जाता है, वह नकारात्मक सामाजिक नियंत्रण होता है।

5) संगठित, असंगठित और सहज सामाजिक नियंत्रण

गुरविच तथा मूरने सामाजिक नियंत्रण के इन तीनों प्रकारों को विवेचित किया है। संगठित नियंत्रण नियमबद्ध एवं सुपरिभाषित होता है। यह छोटी-बड़ी एजेंसियों एवं व्यापक नियमों द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों पर नियंत्रण लगता है। जैसे- विवाह, परिवार, स्कूल, दफ्तर आदि। असंगठित सामाजिक नियंत्रण के अंतर्गत संस्कार, परंपराएँ जनरीतियाँ, सामाजिक मानदंड और सांस्कृतिक नियम सम्मिलित हैं। सहज सामाजिक नियंत्रण का आधार व्यक्ति का अनुभव एवं आवश्यकताएँ हैं, जो व्यक्ति को किसी विशिष्ट प्रकार के कार्य की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न करता है।

2.13 सारांश

मानव एक सामाजिक प्राणी है और सामाजिक प्राणी होने के नाते वह अपने जीवन में अनेक आवश्यकताओं से घिरा होता है, जिसमें कुछ उसकी स्वयं की होती हैं, तो कुछ अन्य की। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे कुछ समूहों की सदस्यता ग्रहण करनी पड़ती है। विद्वानों ने कई प्रकार के सामाजिक समूहों की व्याख्या की है, परंतु मूल रूप से दो प्रकार के सामाजिक समूह माने गए हैं–

- प्राथमिक समूह
- द्वितीयक समूह

मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही संस्थाओं की रचना की जाती हैं। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लगातार प्रयासरत रहता है और उसमें से कोई प्रयास अन्य से बेहतर निकलकर आता है, जिसे अन्य द्वारा भी स्वीकार कर लिया जाता है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी उस प्रयास के हस्तांतरण और सर्वसम्मति के पश्चात वह प्रयास सामाजिक संस्था के रूप में परिणत हो जाता है। कालांतर में यह प्रयास ही सामाजिक संस्था के नाम से जाना जाता है।

समाज के स्थायित्व के लिए व्यक्तियों का उचित और ठीक रूप से कार्य करते रहना अति आवश्यक है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को सर्वोच्च मानने लगे और अपनी इच्छानुसार कार्य करने लगे तो समाज में अव्यवस्था व्याप्त हो जाएगी। इसे दूर करने के लिए समाज द्वारा विभिन्न तकनीकों व विधियों के द्वारा समाज पर नियंत्रण लगाया जाता है। ये तरीके कई प्रकार के हो सकते हैं –

- औपचारिक और अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण
- चेतन और अचेतन सामाजिक नियंत्रण
- प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सामाजिक नियंत्रण
- सकारात्मक और नकारात्मक सामाजिक नियंत्रण
- संगठित, असंगठित और सहज सामाजिक नियंत्रण

2.14 बोध प्रश्न

प्रश्न 1: सामाजिक समूह को परिभाषित कीजिए और उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 2: सामाजिक समूहों के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 3: प्राथमिक समूह और द्वितीयक समूह में अंतर बताइए।

प्रश्न 4: सामाजिक संस्था क्या है? इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 5: सामाजिक नियंत्रण क्या है? इसके विभिन्न स्वरूपों पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 6: टिप्पणी लिखिए –

1. प्राथमिक समूह
2. द्वितीयक समूह

2.15 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

डेविस, के. (1949). *ह्यूमन सोसाइटी.* न्यूयोर्क: मैकमिलन कंपनी।

कूले सी.एच. (1962). *सोशल ऑर्गनाइज़ेशन.* ग्लेनकोई: द फ्री प्रेस।

बोटोमोर, टी.बी. (1969). *सोशियोलॉजी: अ गाइड टू प्रॉब्लम एंड लिट्रेचर.* लंदन: एलेन एंड अनविन।

सिंधी, न.क. एवं गोस्वामी, व. (2002). *समाजशास्त्र विवेचन*. जयपुर: राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी।

बोगार्डस, ई.एस. (1917). *इंट्रोडक्शन टू सोशियोलॉजी.* लॉस एंजेल्स: यूनिवर्सिटी ऑफ साउथर्न कैलिफोर्निया प्रेस।

इकाई 3
समुदाय की संकल्पना: शहरी, ग्रामीण और आदिवासी

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 समुदाय: अर्थ एवं परिभाषाएँ
3.3 समुदाय के आधार या तत्व
3.4 समुदाय की विशेषताएँ
3.5 शहरी समुदाय
3.6 शहरी समुदाय की विशेषताएँ
3.7 ग्रामीण समुदाय
3.8 ग्रामीण समुदाय की विशेषताएँ
3.9 आदिवासी समुदाय
3.10 आदिवासी समुदाय की विशेषताएँ
3.11 सारांश
3.12 बोध प्रश्न
3.13 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

ज्ञान शांति मैत्री

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप –

- समुदाय की संकल्पना एवं उसके विभिन्न आयामों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- शहरी, ग्रामीण और आदिवासी समुदाय का वर्णन कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

'समुदाय' एक ऐसा सामाजिक समूह है, जिसमें मनुष्य अपना जीवन सामान्य रूप से व्यतित करता है। वह निश्चित भू-भाग पर जीवन बसर करता है। समुदाय में ही सदस्यों का जन्म होता है और अंततः उसी में उसकी मृत्यु हो जाती है। विभिन्न विद्वानों ने समुदाय को मूल रूप से तीन भागों मेंवर्गीकृत किया है –

- शहरी समुदाय

- ग्रामीण समुदाय
- आदिवासी समुदाय

3.2 समुदाय: अर्थ एवं परिभाषाएँ

'समुदाय' शब्द अंग्रेज़ी भाषा के 'कम्यूनिटी' का हिंदी रूपांतरण है, जो कि लैटिन भाषा के 'कॉम' तथा 'म्यूनिस' शब्दों से मिलकर बना है, जिनका अर्थ क्रमशः 'एक साथ' और 'सेवा करना' है। अर्थात समुदाय का शाब्दिक अर्थ है- 'एक साथ सेवा करना'। समुदाय व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है, जिसमें उनका सामान्य जीवन व्यतीत होता है। समुदाय के निर्माण के लिए दो बातों का होना अनिवार्य शर्त है–

- निश्चित भू-भाग
- इसमें रहने वालों में सामुदायिकता की भावना

1. **मैकाइवर और पेज-** *"जहाँ कहीं एक छोटे या बड़े समूह के सदस्य एक साथ रहते हुए उद्देश्य विशेष में भाग न लेकर सामान्य जीवन की मौलिक दशाओं में भाग लेते हैं उस समूह को हम समुदाय कहते हैं।"*
2. **ऑगबर्न और निमकॉफ-** *"किसी सीमित क्षेत्र के अंतर्गत रहने वाले सामाजिक जीवन के संपूर्ण संगठन को समुदाय कहा जाता है।"*
3. **जिंसबर्ग-** *"समुदाय से सामाजिक प्राणियों के एक ऐसे समूह का बोध होता है जो एक सामान्य जीवन व्यतीत करता है, जिसमें वे सब असीम रूप से विविध और जटिल संबंधों में शामिल रहते हैं जो सामान्य जीवन का परिणाम है अथवा उसको बनाते हैं।"*
4. **बोगार्डस-** *"समुदाय एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसमें कुछ अंशों तक 'हम की भावना' पाई जाती है तथा वह एक निश्चित क्षेत्र में निवास करता है।"*
5. **ग्रीन-** *"समुदाय संकीर्ण प्रादेशिक घेरे में रहने वाले उन व्यक्तियों का समूह है जो जीवन के सामान्य ढंग को अपनाते हैं। एक समुदाय एक स्थानीय क्षेत्रीय समूह है।"*
6. **कोल-** *"एक समुदाय से मेरा तात्पर्य एक जटिल सामाजिक जीवन से है, एक ऐसी जटिलता, जिसमें परिवर्तनशील समान रूढ़ियों, प्रथाओं तथा परंपराओं द्वारा परस्पर संबध्दऔर किसी सीमा तक सामाजिक लक्ष्यों और हितों के प्रति चेतन, सामाजिक संबंधों की अवस्थाओं में साथ साथ रहने वाले मानव प्राणी शामिल होते हैं।"*
7. **डेविस-** *"समुदाय सबसे छोटा वह क्षेत्रीय समूह है जिसके अंतर्गत सामाजिक जीवन के समस्त पहलू आ सकते हैं।"*
8. **मेंजर-** *"वह समाज जो निश्चित भू-भाग में रहता है, समुदाय कहलाता है।"*

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि समुदाय व्यक्तियों का एक विशिष्ट समूह है जो कि एक निश्चित भौगोलिक सीमाओं में रहता है। इसके सदस्य सामुदायिक भावना(हम की भावना, दायित्व की भावना और निर्भरता की भावना) द्वारा परस्पर संगठित रहते हैं। इसमें व्यक्ति किसी विशिष्ट उद्देश्य की अपेक्षा अपनी सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रयत्न करते रहते हैं।

3.3 समुदाय के आधार या तत्व

किंग्सले डेविस ने समुदाय के दो तरह के आधारभूत तत्वों की चर्चा की है–

1) **प्रादेशिक निकटता**

   सदैव ही कतिपय जगहों पर आवासों के समुच्च पाए जाते हैं। किसी अन्य समूह के व्यक्तियों की अपेक्षा अपने ही समूह में अंतःक्रिया करने को सरल मानते हैं। निकटता संपर्क को सुगम बनाती है और सुरक्षा की भावना भी पैदा करती है।

2) **सामाजिक पूर्णता**

   डेविस के अनुसार, "समुदाय सबसे छोटा प्रादेशिक समूह होता है। यह सामाजिक जीवन के समस्त पहलुओं का अवलोकन करता है। यह उन सभी विस्तृत संस्थाओं रुचियों आदि को अपने में शामिल करता हैं, जिनसे समाज का निर्माण होता है"।

मैकाइवर और पेज ने भी समुदाय को दो आवश्यक तत्वों में वर्गीकृत किया है–

1) **स्थानीय क्षेत्र**

   समुदाय के लिए अत्यंत आवश्यक तत्व के रूप में स्थानीय क्षेत्र या निवास स्थान है। इसकी अनुपस्थिति में समुदाय का जन्म ही नहीं हो सकता। क्षेत्र में निश्चितता होने के कारण ही आवासीय सदस्यों के बीच घनिष्ठता, सहनशीलता और सामंजस्यता की भावना पनपती है।

2) **सामुदायिक भावना**

   सामुदायिक भावना समुदाय की मूल संकल्पना होती है। इसके बिना भी समुदाय की कल्पना नहीं की जा सकती। इस भावना के जन्म का कारण एक निश्चित क्षेत्र, सदस्यों के कार्य करने का सामान्य ढंग और प्रत्येक सदस्य का एक-दूसरे के सुखदुख में सम्मिलित होना होता है। दूसरे का सुख का सुख और दूसरे का दुख उनका स्वयं का दुख होता है।

इसके इतर समुदाय में निम्न आवश्यक तत्व होते हैं–

1) समुदाय की पहली आवश्यक शर्त एक निश्चित भू-भाग है, क्योंकि उसके बिना व्यक्तियों में अंतरसंबंधों की कल्पना भी नहीं की जा सकती और 'हम की भावना' के सृजन का तो कोई सवाल ही नहीं उठता।
2) यह मनुष्यों का एक झुंड होता है।

3) सदरलैंड, वुडवर्ड और मैक्सवेल के अनुसार *"समुदाय एक ऐसा स्थानीय क्षेत्र है, जिस पर लोग एक ही भाषा का प्रयोग करते हैं, समान रूढ़ियों का पालन करते हैं और कमोबेश रूप में समान भावों का अनुभव करते हैं।"* अर्थात एक समुदाय में सामुदायिक ता की भावना का होना अत्यंत आवश्यक है।"

4) समुदाय में भाषा, रीति-रिवाज, रूढ़ियों-परंपराओं आदि में विभिन्न रूपों में समानता पाई जाती है। ग्रीन के शब्दों में, *"समुदाय संकीर्ण भौगोलिक दायरे में रहने वाले लोगों का संग्रह है, जो कि जीवन के एक सामान्य ढंग का आंगीकार करते हैं।"*

5) समुदाय में स्थायित्व का गुण पाया जाता है वह किसी अनियोजित भीड़ के समान अस्थायी नहीं होता है।

6) मनुष्यों का जन्म समुदाय में होता है, परंतु समुदायों की निर्मिति नहीं की जाती, वे स्वतः स्फूर्त होते हैं।

7) प्रत्येक समुदाय का एक नाम होता है, जिससे उसका व्यक्तित्व संबंधित रहता है। लम्ले के अनुसार, *"वह एकरूपता का संकेत होता है, वह यथार्थता बताता है, वह वैयक्तिकता का द्योतक है, वह बहुधा व्यक्तित्व का गुणगान करता है और प्रत्येक समुदाय किसी-न-किसी तरह का एक व्यक्तित्व है।"*

3.4 समुदाय की विशेषताएँ

समुदाय की प्रमुख विशेषताएँ अधोलोखित हैं–

i. समुदाय, निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करने वाले व्यक्तियों का मूर्त समूह हैं। समुदाय के निर्माण के लिए आवश्यक है कि वह एक व्यक्ति का समूह न होकर कई व्यक्तियों का समूह हो।

ii. समुदाय का एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है और उसके सभी सदस्य उस निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में ही निवास करते हैं।

iii. समुदाय की सदस्यता अनिवार्य होती है। प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी समुदाय का सदस्य होता है।

iv. प्रत्येक समुदाय में रहने वाले सदस्यों का रहन-सहन, भोजन का तरीका, धर्म आदि सभी काफ़ी हद तक सामान्य होते हैं। समुदाय का कोई विशिष्ट लक्ष्य अथवा उद्देश्य नहीं होता है।

v. समुदाय की निर्मिति किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं होती है, अपितु इसका जन्म स्वतः होता है।

vi. प्रत्येक समुदाय का कोई न कोई विशिष्ट नाम होता है और इससे सामुदायिक एकता का सृजन होता है।

vii. समुदाय के समस्त सदस्यों के व्यवहार सामान्य नियमों द्वारा नियंत्रित और निर्देशित होते हैं।

viii. समुदाय में स्थायित्व का गुण होता है।

ix. सामुदायिक भावना समुदाय की नींव होती है। सदस्य अपने वैयक्तिक हितों की पूर्ति के लिए प्रतिबद्ध नहीं होते हैं, अपितु वे सार्वजनिक हितों को प्राथमिकता देते हैं।

x. सामान्य जीवन एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण समुदाय में आत्मनिर्भरता का गुण पाया जाता है।

सामान्य तौर पर समुदाय को प्रमुख तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है–

1. शहरी/नगरीय समुदाय
2. ग्रामीण समुदाय
3. आदिवासी/जनजातीय समुदाय

3.5 शहरी समुदाय

शहरी समुदाय, नगरीय समुदाय, नागरी क्षेत्र तथा नगर पर्यायवाची शब्द हैं, जिनकी कोई सर्वमान्य परिभाषा प्रस्तुत कर पाना एक दुष्कर कार्य है। विभिन्न देशों में शहरी क्षेत्र के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। उदाहरणस्वरूप, ग्रिनलैंड में 300 निवासियों के क्षेत्र को, अर्जेनटाइना में 1,000, भारत में 5,000, इटली तथा स्पेन में 10,000, अमेरिका में 20,000 तथा कोरिया गणराज्य में 40,000 निवासियों के क्षेत्र को शहरी क्षेत्र माना गया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि शहर/नगर की परिभाषा विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न है। इसके अलावा एक ही देश में विभिन्न जनगणना वर्षों में इसकी परिभाषा में अनेक परिवर्तन किए जाते हैं। अनेक विद्वानों ने इसकी परिभाषा में जनसंख्या के आकार और घनत्व को महत्व दिया है। किंग्सले डेविस इस मत से बिल्कुल असहमत हैं। वे कहते हैं कि, "सामाजिक दृष्टि से नगर परिस्थितियों की उपज होती है"। उनका मानना है कि शहर एक ऐसा समुदाय हैं, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विषमता शामिल होती है।

भारत में 1991 की जनगणना में 'शहरी क्षेत्र' को निम्नलिखित कसौटियों के आधार पर परिभाषित किया गया है –

1) वे सभी स्थान जहाँ नगर महापालिका, कैंट बोर्ड अथवा अधिसूचित नगर क्षेत्र समिति इत्यादि उपलब्ध हैं।

2) वे सभी स्थान, जहां –

- कम से कम 5,000 की आबादी है।
- कार्यरत पुरुष जनसंख्या का तीन-चौथाई भाग गैर-कृषि व्यवसायों में संलिप्त है।
- प्रति वर्गमील 400 व्यक्तियों का घनत्व है।

-

3.6 शहरी समुदाय की विशेषताएँ

किंग्सले डेविस द्वारा शहरी समुदाय की निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया गया है –

i. शहरी समुदायों की जनसंख्या विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में संलिप्त रहती है तथा उनके रहन-सहन, खान-पान, सामाजिक मूल्यों और रीति-रिवाजों में काफ़ी भिन्नता पाई जाती हैं।

ii. द्वितीयक समितियों की प्रधानता के कारण शहरी समुदाय के लोग आपस में व्यक्तिगत रूप से परिचित नहीं होते।

iii. विभिन्नता के बावजूद शहरी समुदाय में लोगों को एक साथ निवास करना पड़ता है, जिसके कारण उनमें एक-दूसरे के प्रति सामाजिक सहिष्णुता में वृद्धि होती है।

iv. शहरी समुदायों में द्वितीयक नियंत्रण के साधनों यथा- पुलिस, कानून, शिक्षा आदि की प्रधानता होती है।

v. यहाँ आवागमन, संचार, शिक्षा, नवीन व्यवसाय आदि की सुविधाओं के प्रचुर मात्रा में होने के कारण सामाजिक गतिशीलता अधिक मात्रा में पाई जाती है।

vi. ऐच्छिक साहचर्य शहरी समुदाय की एक और विशेषता है, जो आज ग्रामीण समुदायों में भी देखने को मिलती है। शहरी जनसंख्या का विस्तृत आकार, इसमें घनिष्ठ निकटता, विभिन्नता और सरल संपर्क शहर को ऐच्छिक साहचर्य के योग्य और पूर्ण स्थान के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

vii. शहरी समुदायों की विभिन्न विशेषताएँ व्यक्ति को व्यक्तिवादिता की ओर उन्मुख करती हैं।

viii. शहरी व्यक्तियों के कार्यों में स्पष्ट तौर पर पृथक्करण पाया जाता है।

ज्ञान शांति मैत्री

3.7 ग्रामीण समुदाय

सामान्य शब्दों में यदि कहा जाए, तो ग्रामीण समुदाय एक ऐसा समुदाय है, जहाँ अपेक्षाकृत अधिक समानता, अनौपचारिकता, प्राथमिक समूहों की प्रधानता, जनसंख्या का कम घनत्व और कृषि व्यवसाय की प्रधानता आदि प्रकार की प्रमुख विशेषताएँ पाई जाती हैं।

1. **सैंडरसन-** *"एक ग्रामीण समुदाय वह स्थानीय क्षेत्र है, जिसमें वहाँ निवास करने वाले लोगों की सामाजिक अंत:क्रिया और उनकी संस्थाएं शामिल हैं, जिनमेंवह खेतों के चारों ओर बिखरी झोपड़ियों या ग्रामों में रहता है और जो उनकी सामान्य गतिविधियों का केंद्र है।"*
2. **मैरिल एवं एल्ड्रिज-** *"ग्रामीण समुदाय के अंतर्गत संस्थाओं एवं व्यक्तियों का समावेश होता है जो एक छोटे से केंद्र के चारों ओर संगठित होते हैं तथा सामान्य प्राथमिक हितों द्वारा आपस में बंधे रहते हैं।"*

उपर्युक्त परिभाषाओं के आलोक में यह स्पष्ट होता है कि ग्रामीण समुदाय का एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है। वहाँ निवास करने वाले व्यक्तियों का मुख्य व्यवसाय कृषि होता है और उनमें सामुदायिक भावना पाई जाती है।

3.8 ग्रामीण समुदाय की विशेषताएँ

ग्रामीण समुदाय की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

i. ग्रामीण समुदाय की प्रमुख विशेषता कृषि पर निर्भरता होती है अर्थात उनका प्रमुख व्यवसाय कृषि होता है।
ii. ग्रामीण समुदाय में सदस्यों का प्रकृति से प्रत्यक्ष संपर्क रहता है।
iii. इनका आकार सीमित होता है, जिसके कारण सदस्यों में प्रत्यक्ष, अनौपचारिक व सहज संबंधों की उपस्थिती होता है।
iv. ग्रामीण समुदाय का भौगोलिक क्षेत्र विस्तृत है, परंतु सदस्यों की संख्या सीमित होने के कारण जनसंख्या का घनत्व बहुत कम होता है।
v. ग्रामीण समुदाय में सजातीयता का समावेश होता है। सदस्यों की जीवन पद्धति, रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज, धार्मिक विचार, सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवहार आदि लगभग एक जैसे ही होते हैं।
vi. ग्रामीण समुदाय में धार्मिक विचारों की प्रधानता होती है। उनके सभी कार्य व व्यवहार धार्मिक विचारों से ही निर्देशित और नियंत्रित होते हैं।
vii. ग्रामीण समाजों में आयु और लिंग के आधार पर स्तरीकरण और विभेदीकरण का सामान्य तौर पर लोप पाया जाता है, परंतु इसमें जातिगत कारक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।
viii. ग्रामीण समुदाय में अपेक्षाकृत सामाजिक एकता अधिक पाई जाती है।
ix. ग्रामीण समुदायों में प्राथमिक संबंधोंकी प्रधानता पाई जाती है।

3.9 आदिवासी समुदाय

'जनजाति' शब्द अंग्रेज़ी के 'ट्राइब' का हिंदी रूपांतरण है जो कि लैटिन भाषा 'ट्राइबस' से बना है। इसका अर्थ 'निर्धन' अथवा 'जन-जन' से लगाया जाता है। समान्यतः जनजाति का अर्थ एक ऐसे समूह से लगाया जाता है, जिसका एक विशिष्ट नाम होता है, जिसमें 'एक समूह होने की भावना' पाई जाती है तथा जो एक सामान्य भौगोलिक क्षेत्र (जैसे - जंगल अथवा पहाड़ों) में निवास करते हैं।

आदिवासी समुदाय अथवा जनजातीय समुदाय भारतीय सामाजिक संरचना के प्रमुख घटक हैं जिनकी जनसंख्या भारतीय जनसंख्या की लगभग 8.43 प्रतिशत है और इन्हें देश के सबसे पिछड़े समुदाय के रूप

में मान्यता दी जाती है। आदिवासी/जनजाति समुदाय को विभिन्न विद्वानों द्वारा अलग-अलग नामों से संबोधित किया गया है –

- जी.एस.घूरिए- पिछड़े हिंदू तथाकथित आदिवासी
- हट्टन- आदिम जनजाति, बहिष्कृत जाति
- मजूमदार- वनवासी
- एल.पी.विद्यार्थी- गिरिजन
- बेन्स- पर्वतकबीला
- गैरिसन- बंद कबीला
- सेवेन्स- पर्वत जनजाति
- टेलेटस, सैल्जनिक और मार्टिन- सर्वजीववादी
- ठक्कर बापा, रिजले- आदिवासी
- वैरियर एल्विन- स्वदेशी उपज

आदिवासी समुदाय की परिभाषा को लेकर विद्वानों में मतभेद रहा है। यहाँ कुछ विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं को प्रस्तुत किया जा रहा है–

1. **मजूमदार-** *"एक जनजाति परिवारों या परिवार के समूहों का संकलन होती है जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसके सदस्य एक निश्चित भू-भाग पर निवास करते हैं, एक-सी भाषा बोलते हैं और विवाह, व्यवसाय या उद्योग के विषय में कुछ निषेधों का पालन करते हैं तथा परस्पर एक निश्चित एवं मूल्यांकित आदानप्रदान की व्यवस्था का विकास करते हैं।"*
2. **हॉवेल-** *"जनजाति एक सामाजिक समुदाय है, जो एक विशिष्ट भाषा बोलता है, जिसकी एक विशिष्ट संस्कृति होती है, जो अपने समूह को अन्य समूह से पृथक करती है जनजाति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह राजनीतिक आधार पर संगठित हो।"*
3. **लिंटन-** *"जनजाति अपने सरलतम स्वरूप में दलों का एक समुदाय है, जो समीपवर्ती क्षेत्रों में निवास करते हैं, जिनमेंएकता की भावना पाई जाती है, जो अनेक समानताओं, समान अभिरुचि व मैत्रीपूर्ण संबंधों के कारण उदित होती है।"*

3.10 आदिवासी समुदाय की विशेषताएँ

उपरोक्त परिभाषाओं में विभिन्नविक्षेप प्रतीत होते हैं। अतः आदिवासी समुदाय को समझने के लिए एक आदर्श प्रारूप निर्मित किया जा सकता है, जिसकी मूल विशेषताएँ निम्नानुसार हैं–

i. नाम, परिचय
ii. भौगोलिक पृथकता
iii. आर्थिक व राजनीतिक स्वायत्तता
iv. बंद समाज
v. सामाजिक समानता
vi. नातेदारी की प्रबलता
vii. उत्पादन के साधनों पर समान अधिकार
viii. शक्ति उपयोग
ix. विशिष्ट संस्कृति और लिपि विहीनता
x. धर्म व जादू
xi. स्थिरता

3.11 सारांश

समुदाय वह सामाजिक समूह है, जिसमें व्यक्ति अपना जीवन व्यतीत करता है। सामान्य तौर पर व्यक्तियों के किसी समूह को समुदाय कह दिया जाता है, परंतु यह ठीक नहीं है। केवल व्यक्तियों का समूह ही समुदाय नहीं है, अपितु समुदाय व्यक्तियों का एक ऐसा समूह, जो कि किसी निश्चित भू-भाग पर रहता है, उनका जन्म उसी समुदाय में होता है, उसी में उनका जीवन व्यतीत होता है और अंतत:उनकी मृत्यु भी उसी समुदाय में हो जाती है। मोटे तौर पर हम समुदाय को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैंशहरी, ग्रामीण और आदिवासी समुदाय।

ज्ञान शांति मैत्री

3.12 बोध प्रश्न

प्रश्न 1: समुदाय किसे कहते हैं? इसकी विशेषताएँ बताइए।
प्रश्न 2: शहरी समुदाय क्या है? इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
प्रश्न 3: ग्रामीण समुदाय किसे कहते हैं? इसकी विशेषताएँ बताइए।
प्रश्न 4: शहरी समुदाय क्या है? इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

3.13 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

सिंधी, न.क. एवं गोस्वामी, व. (2002). *समाजशास्त्र विवेचन.* जयपुर: राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी।
बोगार्डस, ई.एस. (1917). *इंट्रोडक्शन टू सोशियोलॉजी.* लॉस एंजेल्स: यूनिवर्सिटी ऑफ साउथर्न कैलिफोर्निया प्रेस।
चन्द्र, स.श. (2002). *भारतीय सामाजिक संरचना.* नई दिल्ली: कनिष्का पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स।

महाजन, डी. (2008). *प्रारंभिक समाजशास्त्र.* नई दिल्ली: अर्जुन पब्लिशिंग हाउस।
मैकाइवर,आर.एम. एवं पेज,सी.एच. (1949). *सोसाइटी: एन इंट्रोडक्ट्री एनालिसिस.* लंदन: मैकमिलन।
कूले सी.एच. (1962). *सोशल ऑर्गनाइज़ेशन.* ग्लेनकोई: द फ्री प्रेस।
बोटोमोर, टी.बी. (1969). *सोशियोलॉजी: अ गाइड टू प्रॉबलम एंड लिट्रेचर.* लंदन: एलेन एंड अनविन।
डेविस, के. (1949). *ह्यूमन सोसाइटी.* न्यूयोर्क: मैकमिलन कंपनी।

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई 4

सामाजिक बदलाव: अर्थ, विशेषताएँ और कारक

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 सामाजिक बदलाव: अर्थ एवं परिभाषाएँ
4.3 सामाजिक बदलाव की विशेषताएँ
4.4 सामाजिक बदलाव के कारक
4.5 सारांश
4.6 बोध प्रश्न
4.7 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप –

- सामाजिक बदलाव के अर्थ, परिभाषा एवं विशेषता को प्रदर्शित कर सकेंगे।
- सामाजिक बदलाव हेतु उत्तरदायी कारकों की व्याख्या कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

सामान्य रूप से किसी समाज की सामाजिक संरचना (समाज के अंगों के मध्य संबंधों का ताना-बाना) अथवा सामाजिक संगठन (समस्याओं एवं सामाजिक भूमिकाओं के मध्य संबंधों का ताना-बाना) अथवा समाज के अन्य उपादानों में समय अंतराल के साथ होने वाले बदलाव या परिष्करण की प्रक्रिया को सामाजिक बदलाव या सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। यह परिवर्तन समाज की पूर्ववर्ती स्थिति एवं बाद की स्थिति में आए अंतर को परिलक्षित करता है। सामाजिक बदलाव एक सार्वभौमिक और निरंतर क्रियाशील रहने वाली प्रक्रिया है, जिसके अंतर्गत समाज की संरचना के विभिन्न अंगों के प्रकार्य, संबंध, संस्था, मूल्य व्यवस्था आदि में होने वाले बदलाव को सम्मिलित किया जाता है। इसके अलावा, सामाजिक बदलाव एक मूल्य तटस्थ और विस्तृत संकल्पना है जिसमें समाज का आमूलचूल परिवर्तन (संरचना का परिवर्तन)और अति सामान्य परिवर्तन (संरचना में परिवर्तन) दोनों ही सम्मिलित होते हैं।

4.2 सामाजिक बदलाव: अर्थ एवं परिभाषाएँ

बदलाव को अँग्रेजी के 'चेंज','आल्टरेशन' तथा 'मॉडिफिकेशन' आदि शब्दों से संबोधित किया जाता है। बदलाव किसी भी वस्तु, विषय अथवा विचार में समय के अंतराल से आई भिन्नता को कहते हैं। बदलाव एक विस्तृत अवधारणा है। यह जैविक, भौतिक और सामाजिक तीनों जगत में पाई जाती है। सामाजिक बदलाव को संपूर्ण बदलाव या परिवर्तन का एक भाग कहा जा सकता है। सामाजिक बदलाव का अर्थ सामाजिक संगठन, समाज की विभिन्न इकाइयों, सामाजिक संबंधों, सामाजिक संस्थाओं आदि में होने वाला परिवर्तन है।

1. **गिलिन और गिलिन-** *"सामाजिक बदलाव जीवन की स्वीकृत रीतियों में घटित परिवर्तन को कहते हैं यह परिवर्तन चाहे भौगोलिक दशाओं, सांस्कृतिक साधनों, जनसंख्या की रचना या विचारधाराओं में परिवर्तन से उत्पन्न हुआ हो और चाहे प्रसार के द्वारा अथवा समूह के अंतर्गत हुए आविष्कारों के परिणामस्वरूप संभव हुआ हो।"*
2. **मैरिल एवं एल्ड्रिज-** *"अपने सर्वाधिक सही अर्थों में सामाजिक बदलाव का अर्थ है कि अधिक संख्या में व्यक्ति इस प्रकार के कार्यों में व्यस्त हो, जो कि उनके पूर्वजों के अथवा उनके अपने कार्यों से भिन्न हों, जिन्हें वे कुछ समय से पूर्व तक करते थे। समाज का निर्माण प्रतिमानित मानवीय संबंधों के एक विस्तृत एवं जटिल जाल से होता है जिसमें सब लोग भाग लेते हैं। जब मानव व्यवहार संशोधन की प्रक्रिया में होता है, तब कहा जा सकता हैं कि सामाजिक बदलाव हो रहा है।"*
3. **डेविस-** *"सामाजिक बदलाव से तात्पर्य केवल उन परिवर्तनों से है, जो कि सामाजिक संरचना/ढाँचे एवं प्रकार्यों में होते हैं।"*
4. **जोन्स-** *"सामाजिक बदलाव वह शब्द है, जो कि सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक अंतरक्रियाओं या सामाजिक संगठन के किसी भाग में घटित होने वाले हेरफेर या संशोधन के लिए प्रयोग किया जाता है।"*

उक्त वर्णित परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक बदलाव सामाजिक बदलाव नहीं है अपितु सामाजिक बदलाव सामाजिक परस्थिति एवं कार्यों में होने वाला परिवर्तन है। सामाजिक संगठन संरचना और कार्य दोनों से मिलकर बनता है, इसलिए इनमें होने वाले परिवर्तन सामाजिक संगठन में परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन भी सामाजिक बदलाव कहे जाएंगे।

4.3 सामाजिक बदलाव की विशेषताएँ

सामाजिक बदलाव की प्रमुख विशेषताएँ अधोलिखित हैं –

i. सामाजिक बदलाव सार्वभौमिक और निरंतर क्रियाशील सामाजिक प्रक्रिया है। संसार में कोई भी दो समाज पूर्ण रूप से सदृश्य नहीं होते हैं। अतः बदलाव भी पूर्णतः एक समान नहीं होते हैं। रॉबर्ट बिरस्टीड के अनुसार, *"किन्हीं दो समाजों का इतिहास एक समान नहीं होता, किन्हीं दो समाजों की संस्कृति एक जैसी नहीं होती, कोई भी एक-दूसरे का प्रतिरूप नहीं होता।"*

ii. प्रत्येक समाज में सामाजिक बदलाव की गति अलग-अलग होती है। बदलाव की गति न केवल एक समाज से दूसरे समाज में भिन्न होती है, अपितु एक ही समाज के विभिन्न समूहों में भी इसकी गति असमान होती है।

iii. सामाजिक बदलाव समाज से संबंधित होता है। यह व्यक्तिवादी न होकर संपूर्णतावादी होता है और इसी कारण इसका प्रभाव पूरे समाज पर परिलक्षित होता है।

iv. सामाजिक बदलाव स्वाभाविक और अवश्यम्भावी होता है। यह किसी की इच्छा-अनिच्छा पर आश्रित नहीं होता, यद्यपि आधुनिक समय में इसे नियोजित किया जा सकता है।

v. सामाजिक बदलाव एक व्यापक संकल्पना है, जिसमें सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना में होने वाले सभी प्रकार के परिवर्तनों को सम्मिलित किया जाता है।

vi. चूंकि सामाजिक बदलाव का कोई सार्वभौमिक या निश्चित मापदंड नहीं होता, इसलिए सामाजिक बदलाव तुलनात्मक और सापेक्ष होता है। बदलाव को जानने के लिए किन्हीं दो समाजों की तुलना की जानी आवश्यक होती है।

vii. सामाजिक बदलाव के बारे में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। कई बार आकस्मिक कारक द्वारा भी बदलाव लाया जा सकता है, इसलिए सामाजिक बदलाव की दिशा में मात्र अनुमान लगाया जा सकता है, कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है।

viii. सामाजिक बदलाव समय के दो कालखंडों के मध्य सामाजिक संरचना और प्रकार्यों में होने वाले किसी भी बदलाव का सूचक है।

ix. सामाजिक बदलाव अमूर्त है। यह संबंधों में होने वाला बदलाव है और संबंधों को न तोदेखा जा सकता है और न ही स्पर्श किया जा सकता है। सामाजिक बदलाव को केवल अनुभव द्वारा जाना जा सकता है।

x. सामाजिक बदलाव के अनेक प्रतिमान होते हैं, यथा- समरेखीय, उतार-चढ़ाव, चक्रवत, लहरदार आदि।

xi. इससे किसी भी समाज अथवा समूह के पूर्व की स्थिति और वर्तमान स्थिति में अंतर स्थापित किया जा सकता है। विलबर्ट ई. मूर के अनुसार *"मानव अनुभूति में समय का भाव और परिवर्तन का अभ्यास अपृथकनीय रूप से संबंद्ध हैं।"* वे आगे कहते हैं कि *"समय बिना कोई बदलाव नहीं*

*है। बदलाव के अभाव में इसी प्रकार समय का कोइ अर्थ नहीं है।"*इस आधार पर कहा जा सकता है कि बदलाव को समय के सापेक्ष ही समझा जा सकता है।

xii. सामाजिक बदलाव एक मूल्य तटस्थ अवधारणा है। इसमें उद्विकास, विकास एवं प्रगति के रूप में होने वाले सभी परिवर्तनों को सम्मिलित किया जाता है।

4.4 सामाजिक बदलाव के कारक

सामाजिक बदलाव एक जटिल प्रक्रिया है, जिसके विभिन्न कारक हो सकते हैं। सामाजिक बदलाव का बिना किसी कारक के क्रियाशील होना असंभव है, किंतु यह भी सत्य है कि किसी एक कारक से समाज में परिवर्तन आना भी दुष्कर है। यहाँ सामाजिक बदलाव के प्रमुख कारक विश्लेषित किए गए हैं–

1) भौतिक कारक

जब कोई बदलाव भौतिक या भौगोलिक पर्यावरण में होता है, तो उसका प्रभाव समाज पर परिलक्षित होता है। भौतिक पर्यावरण, जैसे-पृथ्वी की बनावट, उसका धरातल, समुद्र तल से ऊंचाईनदियाँ, झरने, चट्टानें, पर्वत, पठार, जलवायु, मौसम आदि मानव जीवन को प्रभावित करते हैं। विचार, व्यवहार, रहन-सहन आदि पर इसका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

2) जैविक कारक

वंशानुक्रमणीय पद्धति में होने वाले परिवर्तनों के लिए जैविक कारक उत्तरदायी होते हैं। वंशानुक्रमण ही अगली पीढ़ी के स्वास्थ्य का निर्धारण करता है और स्वास्थ्य ही शारीरिक व मानसिक कुशलता एवं क्षमता का प्रतिनिधित्व करता है। जैविक कारक ही विवाह की आयु एवं उत्पादन की दर को प्रभावित करते हैं।

3) प्रौद्योगिकीय कारक

आदिकाल में मनुष्य घुमंतू जीवन व्यतीत करता था और भोजन की तलाश करता था। उसके बाद उसने भोजन का संग्रहण करना आरंभ किया और कृषि युग में उसने उत्पादन करना शुरू किया। आज का युग प्रौद्योगिक विकास का है। इसने मनुष्य के जीवन में तेजी से परिवर्तन का संचार किया है। इसने मूल्यों और उपकरणों में काफ़ी परिवर्तन किए हैं। जैसे-कृषि हेतु ट्रैक्टर, यातायात व आवागमन के लिए बस, रेल, मोटरगाड़ी, हवाई जहाज आदि, संचार के क्षेत्र में टेलीफोन, मोबाइल, तार, रेडियो, समाचारपत्र, पत्रिकाएँ आदि, औषधि और उपचार हेतु विविध प्रकार की दवाइयाँ और ऑपरेशन आदि ने मानव जीवन की परिवर्तन को एक नयी दिशा की ओर उन्मुख किया है और उसे गंभीर रूप से प्रभावित किया है।

4) जनसंख्यात्मक कारक

जनसंख्या में होने वाले परिवर्तन द्वारा समाज में अनेक परिवर्तनों की नींव रखी जाती है। यदि किसी क्षेत्र अथवा देश की जनसंख्या के आकार में परिवर्तन होता है, तो उसका प्रभाव पूरे समाज पर परिलक्षित होता है। जनसंख्यात्मक आकार में गिरावट अथवा वृद्धि से सामाजिक मूल्य, विचार, रीति-रिवाज आदि में परिवर्तन हो जाता है।

5) राजनीतिक कारक

सामाजिक बदलाव हेतु राजनीतिक दशाएँ भी उत्तरदायी होती हैं। भाषा के आधार पर नए राज्य की मांग करना, भूख-हड़ताल करना, आंदोलन करना आदि राजनीतिक क्रियाएँ हैं और इसके कारण समाज में अनेक परिवर्तन क्रियान्वित होते हैं। कुछ परिवर्तन राज्य द्वारा बलपूर्वक भी किए जाते हैं और कुछ के पीछे संरचनागत राजनीतिक हलचलों का हस्तक्षेप होता है।

6) आर्थिक कारक

समाज में जिस प्रकार से आर्थिक मूल्यों में परिवर्तन हुआ है, उसी प्रकार इस परिवर्तन ने समाज पर अपने प्रभाव को प्रत्यारोपित किया है। आर्थिक कारक सामाजिक परिवर्तन हेतु एक प्रभावी कारक माना जाता है। कार्ल मार्क्स ने आर्थिक कारक को ही सामाजिक परिवर्तन का मूल आधार माना है।

7) सांस्कृतिक कारक

सामाजिक बदलाव हेतु सांस्कृत्तिक कारक भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते हैं। संस्कृति और समाज दोनों एक-दूसरे से अंतःसंबंधित धारणाएँ हैं। कई विद्वानों ने तो सामाजिक व सांस्कृतिक बदलाव में अंतर करना भी उचित नहीं समझा है। मूल रूप से यह कहा जा सकता हैं कि सांस्कृतिक बदलाव और सामाजिक बदलाव में सीधा संबंध पाया जाता है।

8) मनोवैज्ञानिक कारक

सामाजिक संबंधों में मानसिक सरोकार होता है और इस आधार पर भी सामाजिक बदलाव में मनोवैज्ञानिक कारकों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। मनुष्य की समस्त क्रियाओं का आधार मस्तिष्क ही होता है। मनुष्य के विचार के तरीके में बदलाव से उसके सामाजिक व्यवहार में बदलाव होते हैं। मानसिक दशाएँ सामाजिक बदलाव हेतु काफ़ी हद तक ज़िम्मेदार होती हैं।

4.5 सारांश

बदलाव एक प्राकृतिक प्रक्रिया है, यह सार्वभौमिक है। विश्व में कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो स्थायी अथवा स्थित हो। उसमें किसी-न-किसी प्रकार का बदलाव आना स्वाभाविक है। सभी प्रकार के बदलाव को सामाजिक बदलाव की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। समाज से संबंन्धित विभिन्न दशाओं, सामाजिक संरचना, सामाजिक प्रकार्यों, सामाजिक संस्थाओं, घटनाओं और प्रक्रियाओं में होने वाला बदलाव ही सामाजिक बदलाव है। मूल रूप से किसी समाज के सामाजिक संगठन, सामाजिक संस्थाओं या

सामाजिक भूमिकाओं के प्रतिमानों में अथवा सामाजिक प्रक्रियाओं में होने वाले किसी प्रकार के रूपांतरण, बदलाव, परिवर्तन , परिष्करण की प्रक्रिया को सामाजिक बदलाव कहा जाता है। सामान्य तौर पर, सामाजिक बदलाव किसी लघु-समूह या समाज में क्रियाशील होने वाले छोटे-मोटे परिवर्तनों की तुलना में बृहत सामाजिक प्रणाली में अथवा संपूर्ण सामाजिक ढाँचे में होने वाले उल्लेखनीय बदलाव अथवा परिवर्तन की ओर इंगित करता है।

4.6 बोध प्रश्न

प्रश्न 1: सामाजिक बदलाव किसे कहते हैं? इसकी विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न2: सामाजिक बदलाव हेतु उत्तरदायी कारकों पर प्रकाश डालिए।

4.7 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

डेविस, के. (1949). *ह्यूमन सोसाइटी* न्यूयोर्क: मैकमिलन कंपनी।

सिंधी, न.क. एवं गोस्वामी, व. (2002). *समाजशास्त्र विवेचन*. जयपुर: राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी।

फ्रेंसिस, ई.एम. एवं एल्ड्रिज, एच.डब्ल्यू. (1960). *कल्चर एण्ड सोसाइटी: एन इंट्रोडक्शन टू सोशियोलॉजी*. न्यू जर्सी: एंग्लेवूड क्लीफ़।

महाजन, डी. (2008). *प्रारंभिक समाजशास्त्र*. नई दिल्ली: अर्जुन पब्लिशिंग हाउस।

फेयरचाइल्ड, एच.पी. (1958). *डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी*. लंदन: विजन।

बोटोमोर, टी.बी. (1969). *सोशियोलॉजी: अ गाइड टू प्रॉबलम एंड लिट्रेचर* लंदन: एलेन एंड अनविन।

ज्ञान शांति मैत्री

खंड - 2

सामाजिक समस्याएं एवं आंदोलन

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई 1
भारत में सामाजिक समस्याएँ एवं उनका प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 सामाजिक समस्या: संकल्पना और अर्थ
1.3 सामाजिक समस्या की विशेषताएँ
1.4 सामाजिक समस्या की उत्पत्ति
1.5 सामाजिक समस्याओं के लिए उत्तरदायी कारण
1.6 भारत की प्रमुख सामाजिक समस्याएँ और उनका प्रभाव
1.7 सारांश
1.8 बोध प्रश्न
1.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप -

- सामाजिक समस्या की अवधारणा व उसकी विशेषताओं के बारे मेंजानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- सामाजिक समस्या की उत्पत्ति और उसके लिए उत्तरदायी कारकों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- निर्धनता व बेरोज़गारी जैसी सामाजिक समस्याओं व समाज पर उनके प्रभाव को प्रदर्शित कर सकेंगे।
- सांप्रदायिकता, मद्यपान व भ्रष्टाचा और समाज पर इनके प्रभाव को विश्लेषित कर सकेंगे।

1.2 प्रस्तावना

सामाजिक समस्याएँ मूल रूप से वे दशाएँ उत्पन्न करती हैं, जिनसे मानवीय जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है और सामाजिक आदर्श रूप में इसे विचलन के रूप में माना जाता है। सामाजिक समस्याओं के निवारण के लिए मानव को सामूहिक रूप से प्रयत्न करना आवश्यक होता है। समस्याएँ मूल रूप से दो प्रकार की होती हैं, पहली, व्यक्तिगत समस्याएँ, जो किसी व्यक्ति अथवा किसी समाज विशेष से संबंधित होती है तथा उन्हें प्रभावित करती है और दूसरी, सामाजिक समस्याएँ, जो पूरे समाज से संबंधित होती है तथा उसका प्रभाव संपूर्ण समाज पर परिलक्षित होता है। एक कार्यकर्ता का लक्ष्य यह होता है कि वह इन बातों के बारे में जानकारी प्राप्त करे कि सामाज की संरचनाओं व उसकी कार्यप्रणालियों में किस प्रकार की

समस्याएँ उत्पन्न होती हैं और मानवीय जीवन पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है। वह इन समस्याओं के समाधान हेतु प्रयासरत रहता है और इस तथ्य पर विचार करता है कि सामाजिक संरचनाओं को किस प्रकार से पुनर्गठित किया जा सके और समाज को किस प्रकार से पुनः संरचित किया जा सके।

1.3 सामाजिक समस्या: संकल्पना और अर्थ

जब सामाजिक शब्द का प्रयोग किया जाता है, तो इसका प्रत्यक्ष आशय मानवीयों संबंधों, संरचना/ढाँचा, संगठन आदि से लगाया जाता है। वहीं समस्या एक प्रकार का अनुचित व्यवहार अथवा विचलन है, जो सामाजिक व्यवस्था को तोड़ने का काम करती है। यदि सामाजिक समस्या को सम्मिलित रूप से व्याख्यायित किया जाए, तो मानवीय संबंधों, सामाजिक संरचना व सामाजिक संगठनों को विघटित करने वाली समस्याएँ ही सामाजिक समस्याएँ हैं। ये समस्याएँ सामाजिक जीवन को बुरी तरह से प्रभावित करती हैं और इसके कारण मानवीय जीवन भी उथल-पुथल की स्थिति से गुज़रने लगता है।

सामाजिक समस्याओं से संबंधित कुछ विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई परिभाषाएँ निम्न हैं

- **राब एवं सेलजनिक-** *"यह मानवीय संबंधों की वह समस्या है, जो स्वयं समाज को गंभीर चुनौती देती है अथवा अनेक लोगों की महत्वपूर्ण आकांक्षाओं में अड़चन पैदा करती है।*
- **मर्टन एवं निस्बेट-** *"सामाजिक समस्या व्यवहार का वह पक्ष है, जो कि सामाजिक व्यवस्था के अधिकांश भाग द्वारा सामान्य रूप से स्वीकृत अथवा अनुमोदित आदर्शों के उल्लंघन के रूप में जाना जाता है।"*
- **रेनहार्ट-** *"सामाजिक समस्या वह स्थिति है, जिससे समाज का एक खंड अथवा एक बड़ा भाग प्रभावित होता है और , जिसके ऐसे हानिकारक परिणाम हो सकते हैं अथवा होते हैं, जिनका समाधान समूहिक रूप से संभव है।"*
- **ग्रीन-** *"सामाजिक समस्या ऐसी परिस्थितियों का समुच्च है, जिसे समाज में बहुसंख्यक अथवा पर्याप्त अल्पसंख्यक द्वारा नैतिकतया अनुचित समझा जा सकताहै।"*
- **क्लेरेन्स मार्शल-** *"सामाजिक समस्या ऐसी परिस्थिति को इंगित करती है, जो समाज के सुयोग्य पर्यवेक्षकों/अवलोकनकर्ताओं की एक बड़ी संख्या को अपनी ओर आकृष्ट करती है और उनसे अनुरोध व अपील करती है कि वे उसका पुनर्व्यवस्थापन करें अथवा किसी-न-किसी प्रकार की सामूहिक कार्यवाही से उसे व्यवस्थित या ठीक करें।"*
- **होर्टन एवं लेस्ले-** *"सामाजिक समस्या एक ऐसी स्थिति है, जो बहुत से लोगों को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करती है तथा जिसका समाधान सामूहिक सामाजिक क्रिया से ही किया जा सकता है।"*

- **हर्बर्ट ब्लूमर-** *"सामाजिक समस्याओं में वे कर्म अथवा व्यवहार के संरूप शामिल हैं, जिन्हें बड़ी संख्या में लोग समाज के प्रति खतरनाक मानते हैं अथवा सामाजिक प्रतिमानों का उल्लंघन समझते हैं और , जिन्हें सुधारना वे संभव व वांछनीय मानते हैं।"*
- **फुलर और मेयर्स-** *"जब समाज के अधिकांश सदस्य किसी विशिष्ट दशा और व्यवहार प्रतिमानों को अवांछित व आपत्तिजनक मान लेते हैं, तब उसे सामाजिक समस्याओं की संज्ञा दी जाती है।'*
- **कार-** *"सामाजिक समस्या तब उत्पन्न होती है, जब लोग किसी कठिनाई के प्रति सचेत हो जाते हैं, जब लोगों की अभिरुचियों और यथार्थता के मध्य खाई आ जाती है।"*

उक्त वर्णित परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामाजिक समस्या एक दशा है जो समाज की व्यवस्था और उसके अस्तित्व को झकझोर कर रख देती है। यह वह सामाजिक जीवन में उत्पन्न होने वाली दशा है, जिसके लिए संपूर्ण समाज चिंतित रहता है। परिभाषाओं के आधार पर सामाजिक समस्याओं के मूल रूप से तीन तत्व उभरकर सामने आते हैं जो निम्न हैं–

1. यह समाज के अधिकांश सदस्यों से संबंधित होती है।
2. यह समाज के लिए तनावपूर्ण अथवा बाध्यकारी दशाएँ उत्पन्न करती है। इसे बर्नार्ड द्वारा तीन भागों में वर्गीकृत किया गया है–
    - तनाव कारक, ये कारक किसी सामाजिक मूल्य के लिए चुनौती उत्पन्न करते हैं।
    - सामाजिक मूल्य, कारकों के आधार पर इन्हें चुनौती दी जाती है।
    - चुनौती के प्रति व्यक्ति अथवा संपूर्ण समाज की तीव्र प्रतिक्रियाएँ अर्थात समाज के कल्याण व संगठन की व्यवस्था के नष्ट हो जाने का भय अथवा आशंका की स्थिति।
3. सामूहिक सामाजिक क्रियाएँ, जो सामाजिक समस्याओं के समाधान के सामूहिक प्रयत्न पर आधारित होती है।

मोटे तौर पर सामाजिक समस्याएँ वे परिस्थितियाँ हैं, जो समाज के लिए विचलित व्यवहार के रूप में मानी जाती हैं। समाज का एक बड़ा भाग उसके कारण तनावपूर्ण स्थिति में रहता है और इनका समाधान सामूहिक प्रयत्नों से किया जा सकता है। भारत में निर्धनता, बेरोज़गारी, सांप्रदायिकता, मद्यपान, भ्रष्टाचार, अपराध आदि प्रमुख सामाजिक समस्याएँ हैं, जिनके बारे में इस इकाई में आगे चर्चा की जाएगी।

1.4 सामाजिक समस्या की विशेषता

वेनबर्ग का मानना है कि सामाजिक समस्याएँ ऐसी व्यावहारिक संरूप और दशाएँ हैं, जो सामाजिक प्रक्रियाओं से पैदा होती हैं तथा समाज के कई सदस्यों द्वारा इन्हें इस कदर अवांछनीय माना जाता है कि उन्हें इस बात का पूर्ण विश्वास हो जाता है कि सामाजिक समस्याओं के निवारण हेतु कार्यक्रम सेवाएँ व

सुधारक नीतियों का नियोजन करना अत्यंत आवश्यक है। इन्होंने सामाजिक समस्याओं की निम्न प्रकार की विशेषताएँ बताई हैं–

1. सामाजिक समस्याओं को समाज के अनेक सदस्यों द्वारा निंदनीय, आपत्तिजनक माना जाता है। अर्थात समाज यह तय करता है कि कौन सी गतिविधियाँ सामाजिक समस्या के रूप में हैं और कौन सी नहीं।
2. सामाजिक समस्याओं में परिवर्तन आ जाता है यदि उनसे जुड़े व्यवहारों के संरूपों की व्याख्या अलग तरह से की जाए। अर्थात सामाजिक समस्याओं के मानक देश, काल और वातावरण के सापेक्ष होते हैं, उदाहरणार्थ- कुछ समय पहले जिस पागलपन को सामाजिक विचलन के रूप में माना जाता था, आज उसे एक मानसिक रोग कहा जाता है और रोगी का इलाज किया जाता है।
3. मानकों के अलावा सामाजिक समस्याओं का संदर्भ भी इतिहास के साथ परिवर्तित होता रहताहै। अर्थात समकालीन संदर्भ की सामाजिक समस्याएँ पहले की सामाजिक समस्याओं से भिन्न प्रकार की होती हैं और उनका समाधान भी अलग ढंग से किया जाना चाहिए।
4. सामाजिक समस्याएँ समाज के मूल्यों और संस्थाओं के सापेक्ष भी होती हैं,अर्थात पश्चिमी देशों में प्रजाति की समस्या और भारत में जाति की समस्या का संदर्भ अलग-अलग है।
5. सामाजिक समस्याओं के क्षेत्र और महत्ता के बारे में जागरूकता फैलाने का काम संचार माध्यमों की उल्लेखनीय भूमिका रहती है।
6. सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण सामूहिक प्रतिक्रियाओं और सामाजिक संबंधों पर पड़ने वाले प्रभावों को संज्ञान में रखकर की जानी चाहिए।

वेनबर्ग द्वारा प्रस्तुत की गई विशेषताओं के अतिरिक्त उपर्युक्त वर्णित विद्वानों की परिभाषाओं के आधार पर सामाजिक समस्याओं की निम्न विशेषताओं को प्रस्तुत किया जा सकता है

1. यह वह परिस्थिति है, जो समाज के लिए हानिकारक होती है और समाज इसके समाधान के लिए गंभीर रहता है।
2. सामाजिक समस्याओं के परिणाम संपूर्ण समाज पर परिलक्षित होते हैं।
3. इनका संबंध सामाजिक संरचना से होता है। उन्हीं समस्याओं को सामाजिक समस्या का दर्जा दिया जा सकता है, जो समाज की संरचना पर कुप्रभाव डालती हैं अथवा जिनका कारण तत्कालीन सामाजिक संरचना में मौजूद रहता है।
4. इसमें सामूहिकता के तत्व निहित रहते हैं। कुछ व्यक्तियों द्वारा किसी समस्या को आपत्तिजनक माने जाने से वह सामाजिक समस्या नहीं मानी जाएगी। समाज के अधिकांश व्यक्तियों द्वारा किसी समस्या को अवांछनीय मानने पर ही सामाजिक समस्या माना जा सकता है।
5. यह वह समस्या है, जिसका समाधान संपूर्ण समाज द्वारा सामूहिक प्रयास से किया जाता है।

6. सामाजिक समस्याएँ, समाज कल्याण की धारणा से संबंधित होती हैं। प्रायः समाज कल्याण के मार्ग को अवरुद्ध करने वाली समस्याएँ ही सामाजिक समस्याओं की संज्ञा प्राप्त करती हैं।
7. समान्यतः सभी सामाजिक समस्याएँ आपस में एक-दूसरे से अंतरसंबंधित रहती हैं।

1.5 सामाजिक समस्या की उत्पत्ति

हालांकि सामाजिक समस्या की उत्पत्ति अनेक कारणों से होती है, तथापि जब सामाजिक संगठन में सामंजस्य का ह्रास हो जाता है और समाज द्वारा प्रचलित मान्यताएँ, मूल्य, प्रतिमान, आदर्श व नियमों में अव्यवस्था पनपने लगती है, तब सामाजिक समस्या जन्म लेती है। सामाजिक समस्या के प्रमुख चरण निम्न हैं–

1. **चेतना की स्थिति-** गतिविधियाँ सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक जीवन के मार्ग को अवरुद्ध करने लगती हैं और तब इन गतिविधियों के बारे में समाज में सचेतन विमर्श किया जाने लगता है। समाज का अधिकांशतः भाग इन समस्याओं पर सोचविचार करने लगता है।
2. **कठिनाइयों का स्पष्टीकरण-** शनै शनैः यह विचार स्पष्ट रूप से किसी समस्या की ओर इंगित होने लगता है और लोगों को इस समस्या के प्रति असुविधा होने लगती है।
3. **लक्ष्यों का निर्धारण-** समस्या की पहचान हो जाने पश्चात इस चरण में उसके निवारण की ओर अग्रसित होकर कुछ कार्यक्रमों एवं लक्ष्यों को निर्धारित किया जाता है।
4. **संगठन का विकास-** लक्ष्य के निर्धारण के बाद आवश्यक संगठनों का निर्माण किया जाता है, जिनकी सहायता से लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके। साथ ही आवश्यक साधनों की भी व्यवस्था की जाती है, जिससे कि सुधार कार्यक्रमों को नियोजित किया जा सके।
5. **सुधार का प्रबंध-** अंतिम चरण में सुधार कार्यक्रमों को नियोजित किया जाता है और यदि आवश्यक है, तो इसके लिए अनिवार्य संस्थाओं का भी विकास किया जा सकता है।

रॉबर्ट निस्बेट ने सामाजिक समस्या की उत्पत्ति में कुछ सहायक कारकों पर विचार किया है, जो निम्न हैं–

1. **संस्थाओं में द्वंद** अनेक बार ऐसा भी होता है कि संस्थाओं के उद्देश्यों, साधनों व लक्ष्यों में द्वंद की स्थिति पैदा हो जाती है। इस प्रकार का द्वंद प्रायः पुरानी व नवीन संस्थाओं में दृष्टिगोचर होता है। ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि पुरानी संस्थाएँ सामाजिक व्यवस्था को यथारूप बनाए रखने की कवायद करती हैं, जबकि नवीन संस्थाएँ सामाजिक गतिशीलता के आधार पर परिवर्तन को अधिक महत्व देती हैं।
2. **सामाजिक गतिशीलता-**सामाजिक गतिशीलता का स्पष्ट आशय बदलाव से है और बदलाव निश्चित तौर पर कुछ संरचनाओं अथवा व्यवस्थाओं की मान्यताओं को नष्ट कर नवीन मान्यताओं

अथवा मूल्यों को स्थापित करने से संबंधित है। गतिशीलता के कारण व्यक्ति को प्रस्थिति, मूल्यों, मानकों आदि से संघर्ष करना पड़ता है और कई बार ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न होने लगती हैं कि व्यक्ति अवैधानिक, अस्वीकृत ढंग से अपनी प्रस्थिति को ऊर्ध्वाधर परिवर्तित करने में लग जाता है।

3. **व्यक्तिवाद-** सामूहिकता के स्थान पर व्यक्तिवादिता को महत्व देना भी वर्तमान समय के लिए समस्यामूलक हो चुका है। व्यक्तिवाद के कारण प्राथमिक नियंत्रण धीरेधीरे समाप्त होता जा रहा है और व्यक्ति के विचलित होने की संभावनाएँ भी निरंतर तेज होती जा रही हैं। सामाजिक एकता में कमी आ रही है और व्यक्ति सामाजिक मूल्यों, मान्यताओं, व्यवहारों आदि की परवाह न करते हुए मनचाहा व्यवहार करने लगता है।
4. **व्याधिकीय स्थिति-** मूल रूप से यह सामान्य स्थिति से अप्रतिमानित स्थिति की ओर गमन का द्योतक है। इस स्थिति में लोग सामाजिक मूल्यों की चिंता किए बिना स्वयं कीइच्छा के अनुरूप व्यवहार करने लगते हैं, जिससे समाज में अदर्शविहीनता की स्थिति उत्पन्न होने लगती है। लोग मनमाना व्यवहार करने लगते हैं और इससे अनेक नई सामाजिक समस्याएँ उभरकर सामने आने लगती हैं।

1.6 सामाजिक समस्याओं के लिए उत्तरदायी कारण

सामाजिक समस्याओं के लिएउत्तरदायी कारक सर्वथा अनेक होते हैं। सभी समाजों में उत्पन्न सामाजिक समस्याएँ और प्रत्येक सामाजिक समस्याओं के लिए कारक अलगअलग होते हैं। यहाँ कुछ प्रमुख कारकों का उल्लेख किया जा रहा है–

1. सामाजिक समस्याएँ मनुष्य के व्यवहार में परिवर्तन होने के कारण होता है। यदि व्यवहार सामाजिक मूल्यों व मानकों के विरुद्ध होने लगता है, तो इससे सामाजिक समस्याएँ पैदा होने लगती हैं।
2. सामाजिक परिवर्तन की तेज गतिशीलता के कारण प्रायः सामाजिक समस्याएँ जन्म लेने लगती हैं। इसके पीछे कारण यह है कि अनेक बार मनुष्य नवीन परिस्थितियों से अनुकूलन कर पाने में असमर्थ होता है।
3. सामान्य तौर पर सामाजिक समस्या का मूल कारण आर्थिक होता है।
4. पारसन्स ने मनुष्य के भौतिक साधनों के साथ अपूर्ण समायोजन को सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति के लिए महत्वपूर्ण माना है।
5. वोल्फ का मानना है कि सामाजिक समस्या का मूल कारण जनसंख्या वृद्धि है।
6. इलियट और मरिल द्वारा सामाजिक समस्याओं का मूल सामाजिक विघटन को माना है।

रेनहार्ट ने सामाजिक समस्याओं के विकास के लिए आवश्यक तत्वों की चर्चा की हैं जो इस प्रकार हैं–

1. **स्वार्थों और क्रियाओं का विभेदीकरण तथा गुण्** यह तत्व उस सिद्धांत पर आधारित है, जो इस बात को मान्यता प्रदान करता है कि जिस मशीन अथवा जीवित प्राणी के पास जीतने अधिक भाग होते हैं, उन भागों में असंतुलन की संभावना उतनी ही अधिक रहती है। ठीक यही मान्यता मानव पर भी लागू होती है। अर्थात जहाँ अनेक व्यक्तियों, समुदायों, संस्थाओं अथवा व्यवस्थाओं के स्वार्थ में टकराव की स्थिति अधिक मात्रा में रहती है वहाँ सामाजिक समस्याओं के उत्पन्न होने के अवसर अधिक रहते हैं।
2. **सामाजिक परिवर्तन और सभ्यता के विकास की आवृत्ति को तेज करना-** यह वैज्ञानिक और मशीनी नवाचारों की अधिकता के कारण संभव हो पाया है। मशीनों के नवाचार ने कई पुराने रोज़गारों को नष्ट कर दिया और इसके परिणामस्वरूप लाखों लोगों ने प्रवास किया तथा इसने वर्गों में संघर्ष को जन्म दिया।
3. **वैज्ञानिक विश्लेषण करने की मानव की विकसित अंतर्दृष्टि-** जब से मानव द्वारा प्रकृति की गतिविधियों के अध्ययन के लिए सामाजिक अंतर्दृष्टि विकसित की गई है और इसके परिणामस्वरूप पूर्व के साधारण समझे जाने वाली स्थितियों को मानव जीवन और समाज को प्रभावित करने वाले प्राकृतिक कारकों के रूप में समझा जाने लगा हैं।

1.7 भारत की प्रमुख सामाजिक समस्याएँ और उनका प्रभाव

भारत एक बहुलवादी देश है और यहाँ कई प्रकार की जातियाँ, वर्ग, धर्म, संप्रदाय, मत आदि विद्यमान हैं। विविधता होने के कारण यहाँ सामाजिक समस्याओं को पनपने का पर्याप्त वातावरण प्राप्त हो जाता है। भारत की प्रमुख समस्याएँ और समाज पर पड़ने वाले प्रभाव निम्न वर्णित हैं–

निर्धनता

निर्धनता एक प्रकार की दशा है, जो समाज को विघटित करता है। सामाजिक समस्याओं के मूल के रूप में कई विद्वानों द्वारा निर्धनता को विश्लेषित किया गया है। सामान्य तौर पर निर्धनता वह स्थिति है, जो शारीरिक आवश्यकताओं (रोटी, कपड़ा और मकान) की पूर्ति कर पाने में असमर्थता व्यक्त करती है। निर्धनता को पोषण के स्तर द्वारा भी निर्धारित किया जाता है। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति 2,400 कैलोरी और शहरी क्षेत्रों में 2,100 कैलोरी निर्धारित किया गया है।

निर्धनता को स्पष्ट करने के लिए प्रमुख रूप से तीन परिस्थितियों का इस्तेमाल किया जाता है–

- जीवन यापन हेतु आवश्यक धन
- निम्नतम जीवनयापन स्तर और समय व स्थान विशेष पर प्रचलित जीवन-स्तर
- समाज में समृद्धि और निर्धनता की दशाओं की तुलना

निर्धनता के कारण समाज में कई समस्याओं का जन्म हो जाता है। इसी से समाज में जनसंख्या वृद्धि बेरोज़गारी, भुखमरी आदि प्रकार की सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है।

बेरोज़गारी

बेरोज़गारी का सीधा अर्थ है रोज़गार की अनुपलब्धता। बेरोज़गार व्यक्ति वह है, जिसमें कमाने की क्षमता, सामर्थ्य व इच्छा की उपस्थिति होते हुए भी वह वैतनिक काम से वंचित है और व्यक्ति विशेष की यह दशा ही बेरोज़गारी है। बेरोज़गारी के लिए मूल रूप से तीन तत्वों को अंकित किया जा सकता है–

- काम करने की प्रतिभा/क्षमता
- काम करने की इच्छा
- काम तलाशने का प्रयास

इन सभी तत्वों की उपस्थिति के आधार पर ही हम पूर्ण बेरोज़गारी की दशा को समझ सकते हैं। इनमें से किसी तत्व की अनुपस्थिति अथवा किसी एक ही तत्व की उपस्थिति को पूर्ण बेरोज़गारी के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता है। उदाहरण के लिए यदि किसी भिखारी को ही ले लिया जाए, तो वह काम करना नहीं चाहता और ना ही वह उसे ढूँढने का प्रयत्न करता है, वहीं कोई अस्वस्थ्य व्यक्ति किसी काम करने के लिए अपनी योग्यता को प्रस्तुत नहीं कर सकता। ये दशाएँ पूर्ण बेरोज़गारी की दशा में शामिल नहीं की जा सकती। ऐसा तभी हो सकता है, जब उनकी निष्क्रियता अथवा उदासिनता की अवधि अत्यंत न्यून हो। बेरोज़गारी बहुत बड़ा अभिशाप माना जाता है और अनेक विद्वानों की वैचारिकी में इससे संबंधित मंथन भिन्न-भिन्न प्रकार का है। कुछ इसलिए औद्योगिक संरचना में आई मंदी का परिणाम मानते हैं, तो कुछ आर्थिक प्रतिस्पर्धा की अवैयक्तिक शक्तियों का परिणाम मानते हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि बेरोज़गारी मात्र आर्थिक कारणों से ही उत्पन्न नहीं होती है, अपितु इसके लिए सामाजिक और वैयक्तिक कारण भी उत्तरदायी हैं। जनसंख्या वृद्धि, अपमानजनक सामाजिक प्रस्थिति, दोषपूर्ण शिक्षा व्यवस्था, भौगोलिक गतिहीनता, आदि प्रकार के सामाजिक कारण इसके लिए ज़िम्मेदार हैं और अस्वस्थता, अनुभवहीनता, अकुशलता, असमर्थता आदि वैयक्तिक कारण भी इसके लिए ज़िम्मेदार हैं।

सांप्रदायिकता

सामान्यतः सांप्रदायिकता अथवा संप्रदायवाद से लोगों का यह आशय होता है कि यह धर्म, भाषा, संप्रदाय, क्षेत्र, प्रजाति, भाषा में से किसी भी एक आधार पर किया गया विरोध है, जो एक समूह को दूसरे से पृथक रहने की भावना से ग्रसित होता है, परंतु वास्तविकता यह है कि सांप्रदायिकता में संस्कृति, भाषा, क्षेत्र आदि के पृथक्करण का कोई महत्व नहीं होता है। अमेरिका, अफ्रीका, यूरोप के कतिपय भागों में प्रजातीय आधार पर सांप्रदायिक संघर्ष हुए, परंतु भारत में यह धारणा पूर्णरूप से धार्मिक अंधभक्ति से प्रेरित है। नई आर्थिक नीति और वैश्वीकरण के दौर ने भारत में वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य की प्रमुख गतिविधियों में सांप्रदायिकता को शामिल कर दिया। बाबरी मस्जिद विध्वंस कांड, गोधरा कांड के

फलस्वरूप गुजरात में उभरे दंगे, मुंबई कांड, मुजफ्फरनगर कांड, पंजाब में अकाली दल और डेरा सच्चा सौदा के मध्य सांप्रदायिक तनाव आदि ने इसे अंतरराष्ट्रीय फलक के मुद्दे के रूप में स्थापित कर दिया। सांप्रदायिकता के दुष्परिणाम निम्न हैं–

1. आपसी संघर्ष के कारण राष्ट्रीयता पर दुष्प्रभाव
2. राजनैतिक अस्थिरता और अविश्वास
3. सार्वजनिक जन-धन की हानि
4. विभिन्न समूहों में पारस्परिक अविश्वास की भावना
5. औद्योगिक विकास में रुकावट
6. अराजक तत्वों में वृद्धि

मद्यपान

मद्यपान वह स्थिति है, जिसमें एक व्यक्ति मदिरा लेने की मात्रा पर नियंत्रण इस कदर खो बैठता है कि वह मदिरा पीना शुरू करने के पश्चात उसे बंद करने में सदैव असमर्थ रहता है। मद्यपान का व्यसन अल्पकालिक सुखद मनोदशा उत्पन्न करने के प्रयोजन से किया जाता है, परंतु इसके परिणाम अत्यंत घातक हो सकते हैं। मोटे तौर पर मद्यपान को निम्न कारकों के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है–

- मदिरा का अत्यधिक सेवन
- व्यक्ति द्वारा स्वयं के पीने पर बढ़ती हुई चिंता
- मदिरा पान करने वाले का स्वयं पर नियंत्रण खो देना
- अपने सामाजिक विश्व में कार्य करने में कठिनाई का अनुभव करना

भ्रष्टाचार

'भ्रष्टाचार' शब्द दो शब्दों के युग्म से बना है- भ्रष्ट और आचार। भ्रष्ट अर्थात् बुरा या बिगड़ा हुआ और आचार का अभिप्राय आचरण से है। भ्रष्टाचार का शाब्दिक अर्थ है, वह आचरण , जो किसी भी प्रकार से अनैतिक और अनुचित हो। सरल शब्दों में भ्रष्टाचार को 'रिश्वत का काम' कहा जा सकता है। वैयक्तिक लाभ हेतु सार्वजनिक शक्ति का प्रयोग, कानून का उल्लंघन, सामाजिक मानदंडों की अवहेलना आदि को इसमें सम्मिलित किया जा सकता हैं। इसमें टैक्स चोरी, ब्लैकमेल करना, झूठी गवाही अथवा मुकदमा करना, परीक्षा में नकल करना/कराना, परीक्षार्थी का गलत मूल्यांकन करना (सही उत्तर पर अंक न देना और गलत अथवा अलिखित उत्तरों पर भी अंक दे देना), विभिन्न पुरस्कारों के लिए चयनित लोगों में पक्षपात करना, पैसों के लिए वोट देना, वोट के लिए पैसा और शराब आदि बाँटना, पैसे लेकर रिपोर्ट छापना आदि भी भ्रष्टाचार के अंतर्गत ही सम्मिलित किए जाते हैं।

1.8 सारांश

इस इकाई में सामाजिक समस्याओं की अवधारणा और कई विद्वानों की परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया कि सभी प्रकार की समस्याएँ सामाजिक समस्याओं की सूची में सम्मिलित नहीं होती हैं, इसके लिए आवश्यक है कि समस्या के प्रति समाज का एक बड़ा जनसमूह गंभीर और चिंतित हो। इसके अलावा इस इकाई में सामाजिक समस्याओं की विशेषताओं, उत्पत्ति और उसके लिए उत्तरदायी कारकों पर भी चर्चा की गई है। अंततः इस इकाई में भारत की प्रमुख सामाजिक समस्याओं, यथा- निर्धनता, बेरोज़गारी, मद्यपान, सांप्रदायिकता व भ्रष्टाचार के बारे में विश्लेषण प्रस्तुत किया गया और साथ ही इसके परिणामों से भी अवगत कराने का प्रयास किया गया है।

1.9 बोध प्रश्न

बोध प्रश्न 1: सामाजिक समस्या क्या है ? विस्तृत वर्णन प्रस्तुत कीजिए।

बोध प्रश्न 2: सामाजिक समस्या की विशेषताओं को बताइए।

बोध प्रश्न 3: सामाजिक समस्या की उत्पत्ति को स्पष्ट कीजिए।

बोध प्रश्न 4: सामाजिक समस्याओं के लिए उत्तरदायी कारकों का उल्लेख कीजिए।

बोध प्रश्न 5: टिप्पणी कीजिए–

1- निर्धनता
2- बेरोज़गारी
3– सांप्रदायिकता
4- मद्यपान
5- भ्रष्टाचार

1.10 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

बेकर, ह. (1966). *सोशल प्रोब्लम्स: अ मॉडर्न अप्रोच*. न्यूयॉर्क: जॉन विले एण्ड सन्स

इलियट, एम.ए. एवं मैरिल, एफ़.ई. (1950). *सोशल डिसओर्गनाइजेशन*. न्यूयॉर्क: हार्पर एंड ब्रदर्स

अटरचंद, (1987). *पावर्टी एण्ड अंडरडेवलपमेंट: न्यू चैलेंजेस*. दिल्ली: जियान पब्लिशिंग हाउस

घटे, प. (1984). *डाइरेक्ट अटैक्स ऑन रुरल पोवेर्टी*. नई दिल्ली: कोंसेप्ट

क्लार्क, एम. (1983). *करप्शन: कॉजेज़ एण्ड कंसीक्वेन्सेज*. लंदन: फ्रांसेसीज पब्लिशर्स

सिंह, र. (2014). *भारत के विकास की कहानी*. नई दिल्ली: इंडियन पॉलिसी फ़ाउंडेशन

आहूजा, र. (2000). *सामाजिक समस्याएँ*. जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स

शर्मा, के.एल. (2006). *भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन*. जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स

वीर, ग. (2009).*राजनीतिक समाजशास्त्र*. नई दिल्ली: ओमेगा पब्लिकेशन्स

पाण्डेय, त. एवं पाण्डेय, अ. (2011). *समाज कार्य*. लखनऊ: भारत बुक सेंटर

इकाई 2
भारत में सामाजिक आंदोलन (स्वतंत्रता पूर्व)

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 स्वतंत्रता पूर्व भारत में प्रमुख सामाजिक आंदोलन
2.3 समाज सुधार आंदोलन
2.4 पर्यावरणीय आंदोलन
2.5 किसान आंदोलन
2.6 नारीवादी आंदोलन
2.7 सारांश
2.8 बोध प्रश्न
2.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप –

- समाज सुधार आंदोलनों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- पर्यावरणीय आंदोलन का विश्लेषण कर पाएंगे।
- किसान आंदोलनों को स्पष्ट कर सकेंगे।
- नारीवादी आंदोलनों के बारे में समझ विकसित कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

सामाजिक आंदोलन एक सामाजिक प्रक्रिया है, जो किसी विशिष्ट सामाजिक मुद्दे से संबंधित होता है। दूसरे शब्दों में सामाजिक आंदोलन व्यक्तियों और अथवा संगठनों का विस्तृत अनौपचारिक समूह होता है, जो सामाजिक परिवर्तन से संबंधित होता है अथवा परिवर्तन के विरोध से जुड़ा होता है।

2.2 स्वतंत्रता पूर्व भारत में प्रमुख सामाजिक आंदोलन

औपनिवेशिक भारत में अनेक प्रकार के ऐसे परिवर्तन हुए जो परंपरागत भारत की मान्यताओं से इतर थे। इन परिवर्तनों ने बुद्धिजीवियों के मस्तिष्क में असंतोष की दीप्ति प्रज्वलित की और इस असंतोष ने कुछ आंदोलनों को आधारशिला प्रदान किया।

2.3 समाज सुधार आंदोलन

परंपरागत भारतीय समाज धर्म से नियंत्रित, निर्देशित और संचालित रहा है और उसके प्रत्येक पक्ष में धार की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। औपनिवेशिक शासन में भारतीय सामाजिक जीवन में अनेक कुरीतियों और कुप्रथाओं के रूप में बुराइयाँ व्याप्त हो चुकी थीं। इन कुरीतियों के विरुद्ध ब्रिटिश कालिन नीतियों और पश्चिमी मूल्यों ने भारतीय समाज सुधारकों को सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक क्षेत्रों में विरोध करने हेतु प्रेरित किया और इसके परिणामस्वरूप आंदोलन हुए। कुछ प्रमुख समाज सुधार आंदोलन निम्न उल्लेखित हैं–

1. ब्रह्म समाज
2. सत्यशोधक समाज
3. आर्य समाज
4. रामकृष्ण मिशन

ब्रह्म समाज

आधुनिक भारतीय पुनर्जागरण का जनक राजा राम मोहन राम को माना जाता है। ब्रह्म समाज की स्थापना 20 अगस्त 1828 में हुई थी और इसका शाब्दिक अर्थ है 'एक ईश्वर समाज'। हालांकि इस संस्था के मापदंड रूढ़िवादी हिंदुओं को रास नहीं आए,लेकिन फिर भी जन साधारण में इस समाज को अपनाया गया। राजा राम मोहन राय निरपेक्षवादी थे और उनकी प्रेरणास्रोत के रूप में ईसाई, इस्लाम धर्म और उपनिषद् थे। इस्लाम का अद्वैतवाद, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता में उनकी अगाध निष्ठा थी। उन्होंने सती प्रथा और बाल विवाह जैसी कुप्रथाओं और संस्थाओं का विरोध किया। वे महिलाओं के उत्थान हेतु सदैव तत्पर रहते थे। ब्रह्म समाज द्वारा उन्होंने विधवा पुनर्विवाह, तलाक, सिविल विवाह और स्त्रियों के शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए काम किया। ब्रह्म समाज के विशेष कार्यक्रमों में स्त्रियों के लिए संपत्ति हस्तांतरण और अंतरजातीय विवाह थे। उनका मानना था भारतीय समाज की कई कुप्रथाओं और समस्याओं का मूल जाति प्रथा में अंतर्निहित है और वे इस प्रथा का पुरज़ोर विरोध करते थे। ब्रह्म समाज बिना किसी भेदभाव के सभी लोगों के लिए मूर्ति पूजा के स्थान पर एक महान ईश्वर की सत्ता में विश्वास और उसी की पूजा करने की संस्था थी। राजा राम मोहन राय की मृत्यु के पश्चात देवेन्द्रनाथ टैगोर ने ब्रह्म

समाज को एक स्थायी संगठनात्मक स्वरूप प्रदान किया और इसका प्रमुख कार्यक्रम ब्रह्म धर्म को बनाया। टैगोर ने राजा राम मोहन राय के काल की श्रेष्ठतम परंपराओं को बनाए रखा और उनका पालन किया।

सत्यशोधक समाज

सत्यशोधक समाज की स्थापना 1873 में ज्योतिराव गोविंदराव फूले द्वारा महाराष्ट्र में की गई थी। इसका शाब्दिक अर्थ है 'सत्य की खोज अथवा अन्वेषण करने वाला समाज'। इसके द्वारा समाज में विद्यमान कुरीतियों एवं शोषणकारी सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था के विरुद्ध जनसाधारण को जागृत करने का प्रयास किया गया। फूले द्वारा चलाया गया यह आंदोलन खुले तौर पर ब्राह्मणों के विरोध में था। तत्कालीन महाराष्ट्र में सामाजिक स्तरीकरण वर्णाश्रम-धर्म से नियंत्रित और संचालित था , जिसके अंतर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में असमान प्रस्थिति के वितरण से परिभाषित विभाजन किया गया था। इस स्तरीकरण ने विभिन्न जातियों को अंधविश्वासों और कुरीतियों ने समाज को शोषणकारी बना दिया था। इस समय महाराष्ट्र में 'कुनबी' और 'मराठा' दो समुदाय थे। इसमें से कुनबी लोग आर्थिक रूप से संपन्न थे, परंतु जाति व्यवस्था के संस्तरण में वे ब्राह्मणों के अधीन थे। ब्रिटीशकाल के दौरान ब्राह्मणों ने अंग्रेजी शिक्षा को अपना कर औपनिवेशिक शासन में भी अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर लिया। इस स्थिति ने गैर-ब्राह्मणों में चिंता और डर को उत्पन्न किया और साथ ही साथ पश्चिमी विचारधारा की आलोचना भी बुद्धिजीवियों द्वारा लगातार की जा रही थी। इन परिस्थितियों ने सत्यशोधक समाज की स्थापना को तूल देने का काम किया।

फूले ने लड़कियों के लिए एक स्कूल, हरिजनों के लिए एक स्कूल और विधवाओं के लिए एक अनाथालय की व्यवस्था की। फूले ब्राह्मणों और उनके कर्मकांडों के प्रति विरोधाभासी रवैया अपनाते हैं। तर्क बुद्धिवादिता, समानता व मनवातावादी विचारों के आधार पर सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना का पुनर्निर्माण करना ही सत्यशोधक समाज का मूल प्रयोजन था। इनउद्देश्यों की प्राप्ति के लिए समाज ने निम्न उद्देश्यों की नींव रखी–

- जनसाधारण को असमानता के जागरूक करना और ब्राह्मणों के आधिपत्य का विरोध करना
- स्त्री-मुक्ति का प्रयास करना
- शिक्षा का प्रचार-प्रसार करना

आर्य समाज

आर्य समाज की स्थापना सन् 1875 में दयानंद सरस्वती द्वारा मुंबई में किया गया। दयानंद सरस्वती का मानना है कि हिंदू धर्म इस्लाम और ईसाई धर्म से विभिन्न अर्थों में उच्च है। सन् 1920 में उन्होंने आर्य समाज में ही एक आंदोलन चलाया, जिसे 'शुद्धि आंदोलन' के नाम से जाना जाता है। इस आंदोलन का सरोकार उन धर्मावंलबियों से था, जिन्होंने इस्लाम अथवा ईसाई धर्म अंगीकार कर लिया था। इस आंदोलन का सीधा उद्देश्य इस्लाम अथवा ईसाई धर्म ग्रहण किए हुए धर्मावंलबियों को पुनः हिंदू धर्म में

वापस लाना था। वी.डी. सावरकर ने शुद्धि आंदोलन को राजनैतिक अस्त्र बनाते हुए कहा कि लोकतंत्रमें शक्ति सदैव बहुसंख्यकों के पास होती है। अतः हिंदुओं को अपनी शक्ति में वृद्धि करने हेतु अपनी संख्या बढ़ानी होगी। 1922-23 के अपने सम्मेलन ने हिंदू महासभा ने यह ऐलान किया कि4,50,000 राजपूत मुसलमानों ने हिंदू धर्म को अपना लिया।

, लेकिन दयानंद सरस्वती के आर्य समाज को सतही तौर पर व्याख्यायित करना सही नहीं है। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति मूल रूप से वैदिक संस्कृति है। उन्होंने नारा दिया है'वेदों की ओर लौटो'। वे मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे और साथ ही साथ वे ब्राह्मणवाद को ही हिंदू समाज में व्याप्त कुरीतियोंके लिए उत्तरदायी मानते हैं। आर्य समाज का मूल उद्देश्य भारतीय समाज में विद्यमान कुरीतियों और बुराइयों का सामना करते हुए भारतीय परंपरागत आदर्श हिंदू व्यवस्था को स्थापित करना था। इसके इतर भी कुछ महत्वपूर्ण बिंदूओं पर आर्य समाज का कार्यक्षेत्र फैला हुआ है

1. बहु-ईश्वरवाद और मूर्ति पूजा का विरोध
2. वंशानुगत जाति व्यवस्था का उन्मूलन और वर्ण व्यवस्था को पुनः स्थापित करना
3. लिंग समानता और उच्च शिक्षा की ओर प्रेरित करना
4. प्राचीन हिंदू और आधुनिक शिक्षण प्रणाली को समन्वयपूर्ण रूप से पुनः स्थापित करना

आर्य समाज द्वारा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा में निम्न प्रमुख कार्य किए गए हैं–

1. आर्य समान ने 'वेदों की ओर लौटो' का नारा देते हुए वैदिक संस्कृति को पुनः स्थापित करने का सराहनीय प्रयास किया।
2. ब्राह्मणवाद के विरुद्ध जाति व्यवस्था में निहित विकृतियों और समस्याओं को दूर करनेका प्रयास किया और समतामूलक समाज की कल्पना की।
3. स्त्रियों को वेद-अध्ययन और गायत्री मंत्रोच्चारण की अनुमति प्रदान की गई और बाल विवाह पर प्रतिबंध लगाने हेतु लड़कों की वैवाहिक आयु 25 और लड़कियों की वैवाहिक आयु को 16 सुनिश्चित किया गया।
4. ब्रिटिश शासनकाल में हिंदू धर्मांतरण पर अंकुश लगाया।
5. पंजाब में विधवा पुनर्विवाह संपन्न कराया गया और स्त्रियों को शिक्षा प्रदान की गई।
6. हरिद्वार में गुरुकुल को स्थापित करके परंपरागत शिक्षा को प्रेरित किया गया और साथ-ही-साथ डी.ए.वी. की स्थापना करके अंग्रेज़ी शिक्षा को भी महत्व दिया गया।
7. अनाथालय, विधवा आश्रम की व्यवस्था की गई और तथा बढ़ व सूखे से ग्रस्त लोगों की सहायता के रूप में कल्याणकारी कार्य किए गए।

राकृष्ण मिशन

ब्रिटिशकाल में भारतीय धर्म और संस्कृति गर्त पतनोन्मुखी होती चली जा रही थी। ईसाई धर्म के अनुयायी अंग्रेज अपने धर्म और संस्कृति को श्रेष्ठ के रूप में स्थापित करने पर तुले हुए थे और भारतीय अपनी

संस्कृति और धर्म की अस्मिता को बनाए रखने में लगे हुए थे, परिणाम यह हुआ कि लोगों ने खुलकर पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता का विरोध करना प्रारंभ कर दिया, परंतु ठीक इसी समय एक दूसरा मत यह था कि किसी संस्कृति अथवा धर्म को अच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता, अपितु उनमें समन्वय को महत्व दिया जाना चाहिए। यह मुद्दा रामकृष्ण मिशन द्वारा उठाया गया था। रामकृष्ण मिशन की स्थापना सन् 1897 में स्वामी विवेकानंद द्वारा की गई। इसका मुख्यालय कोलकाता के वेल्लुर के पासअवस्थित है। रामकृष्ण मिशन प्राचीन भारतीय संस्कृति और आधुनिक संस्कृति के समन्वय का मूर्त स्वरूप है, जिसके प्रवर्तक रामकृष्ण परमहंस थे।

रामकृष्ण कोलकाता के दक्षिणेश्वर में एक मंदिर के निर्धन पुजारी थे। वे सभी धर्मों में विश्वास रखते थे और उनका कहना था कि एक ही लक्ष्य की प्राप्ति दिशा की ओर उन्मुख होने के लिए कई मार्ग और मत हैं। एकेश्वर और बहु-ईश्वर दोनों मत को वे बराबर तवज्जो देते हैं। वह साकार भी है और निराकार भी। यही रामकृष्ण मिशन का सार भी है। इसका मौलिक उद्देश्य आत्मा की मुक्ति, मानवता की सेवा और सभी धर्मों के बीच सौहार्द स्थापित करके बेहतर समाज की कल्पना करना था। चूंकि यह मिशन वेदांत दर्शन के आधार पर सनातन धर्म को नई दिशा देना चाहता था, इसलिए उसने आंतरिक आध्यात्मिक जीवन के आधार पर मानवीय सेवा के लिए समूहिक प्रयत्नों और सभी बालकों व स्त्रियों को ईश्वर की संतान मानते हुए बिना की जाति, रंग-भेद के उनके लिए शिक्षा और स्वस्थ्य मानवीय जीवन की व्यवस्था करने का संकल्प लिया।

रामकृष्ण मिशन को बेहतर तरीके से समझने के लिए उसके उद्देश्यों को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

- आत्म त्याग और व्यवहारिक अध्यात्मिकता के साथ जीवन व्यतीत करने के लिए साधुओं की एक टोली की व्यवस्था करना, जिसमें से उपदेशकों और कार्यकर्ताओं को रामकृष्ण के जीवन में परिलक्षित वेदांत दर्शन के प्रचार-प्रसार के लिए अन्य स्थानों की ओर भेजना।
- आत्म अनुयायियों के समर्थन के साथ सभी स्त्रियों और बालकों को समान रूप से महत्व देते हुए बिना किसी भेदभाव के उनके लिए शिक्षा, दयायुक्त और मानवीय कार्यों को संपन्न करना है।

यह एक बहुद्देशीय संस्था थी, जिसनेनिम्न कार्यों को अंजाम दिया–

1. स्कूल, कॉलेज, पुस्तकालय व वाचनालयों की व्यवस्था की गई तथा सस्ते दामों पर स्वप्रकाशन से साहित्य मुहैया कराए गए।
2. चिकित्सा, अस्पताल, मुफ्त क्षय रोग क्लीनिक, निदान केंद्र, मुफ्त होम्यो डिस्पेन्सरी तथा विकलांग केंद्र खोले गए।
3. सूखे व बाढ़ आदि आपदाओं में राहत कार्य किए गए।
4. ग्रामीण उत्थान एवं सभी वर्गों के श्रमजीवी लोगों के लिए कल्याणकारी कदम उठाए गए।

2.4 पर्यावरणीय आंदोलन

स्वतंत्रता से पूर्व के पर्यावरणीय आंदोलन की नींव बिश्नोई समाज द्वारा किए गए आंदोलन को महत्वपूर्ण माना जाता है और इसमें लोग पेड़ों से चिपक गए थे।

बिश्नोई आंदोलन

इस आंदोलन को चिपको आंदोलन की आधारशिला कहा जा सकता है। यह जोधपुर (राजस्थान) के खेजड़ली गाँव में 1730 में पेड़ों की रक्षा के प्रयोजन से किया गया था। इसी समय जोधपुर के महाराजा अजय सिंह द्वारा एक विशाल महल बनाने की योजना बनाई गई और इसके लिए काफ़ी लकड़ी की आवश्यकता महसूस की गई। राजस्थान में अकाल होने के कारण खिजड़ी गाँव को चुना गया, क्योंकि वहाँ पर बड़े व मोटे पेड़ों की संख्या पर्याप्त थी। इस सूचना के बाद लोग गाँव में पेड़ों को काटने के लिए निकल पड़े। उसी गाँव की निवासी अमृता देवी ने उन सैनिकों को पेड़ों को काटने से रोका और बताया कि यह उनके पंथ के खिलाफ है। जब इसके बाद भी लोग नहीं रुके, तो अमृता देवी और गाँव की अन्य महिलाएं एक-एक करके पेड़ों से चिपक गईं । उनका नारा था

'सिर साटैं रुख रहे तो भी सस्तो जांण'

इसके बाद एक भीषण नर-संहार हुआ और इसमें 363 लोगों की जाने चली गई।

2.5 किसान आंदोलन

ब्रिटिश काल के दौरान अत्यधिक राजस्व की प्राप्ति के उद्देश्य से भूमि पर राज्य का आधिपत्य स्थापित किया जाने लगा तथा जमींदार, बिचौलियों व नंबरदारों के माध्यम से राज्य द्वारा कृषकों का भूमि पर से आधिपत्य छीन लिया। इसके अलावा उच्च भूमि-कर, बिचौलियों द्वारा बेगार, बेदखली, शोषण आदि की घटनाएँ तेज होने लगीं और इन घटनाओं ने किसानों में विरोध की भावना को जन्म दिया। परिणामस्वरूप किसानों ने समय-समय पर अनेक विद्रोह व विद्रोहात्मक संघर्ष शुरू कर दिए। यहाँ कुछ प्रमुख किसान आंदोलन संक्षेप में उल्लेखित किए जा रहेहैं–

- संथाल विद्रोह
- नील आंदोलन
- चंपारण सत्याग्रह
- खेड़ा सत्याग्रह
- बारदोली सत्याग्रह
- मोपला विद्रोह

- तेभागा आंदोलन

संथाल विद्रोह (1855-56)

प्रथम स्वाधीनता आंदोलन का आरंभ 30 जून, 1855 को संथाल विद्रोह से होती है। भगनाडीह गाँव, जो बिहार राज्य में संथाल परगना के राजमहल जनपद का एक गाँव है, में संथाल नेता सिदो और कान्हू के नेतृत्व में यह विद्रोह किया गया और इसमें करीब 10 हजार की संख्या में जनता ने यह नारा लगाया कि 'अंग्रेज़ हमारी भूमि छोड़ दें'। विद्रोह मूल रूप से जमींदारों, साहूकारों व भूमिकर अधिकारों द्वारा किए जा रहे अत्याचारों के विरोध में किया गया था। इसके अलावा लार्ड कार्नवालिस द्वारा किए गए स्थायी बंदोबस्त के कारण भी जनता के शोषण और अत्याचार में वृद्धि हुई जिसके कारण भी इस विद्रोह को तूल मिला। हालांकि इस आंदोलन को समाप्त करनेके उद्देश्य से सरकार ने एक बड़ी सैन्य कार्यवाही की और इसमें उन्हें सफलता भी हासिल हुई, परंतु साथ ही उन्होंने एक अलग संथाल परगना की मांग को मानकर क्षेत्र में शांति बहाल की।

नील आंदोलन (1859-60)

यह आंदोलन बंगाल के नादिया जिले के गोविंदपुर गाँव में सितंबर,1859 में शुरू हुआ, जो मूल रूप से भारतीय किसानों द्वारा ब्रिटिश नील उत्पादकों के विरोध में किया गया था। अंग्रेज़ अधिकारी बंगाल व बिहार के जमींदारों से भूमि लेकर बिना पैसा दिए ही किसानों को खेतों में काम करने के लिए बाध्य करते थे तथा नील उत्पादक किसानों को अदनी सी रकम अदा कर बाज़ार भाव से अत्यंत कम दाम पर क़रारनामा लिखा लेते थे। किसानों के संगठन और अनुशासन के कारण यह आंदोलन पूर्णरूप से सफल रहा।

चंपारण सत्याग्रह (1917-18)

1917 में चंपारण के किसानों द्वारा पुनः नील की जबरदस्ती खेती के खिलाफ में आंदोलन चलाया गया यह आंदोलन गांधीवादी विचारधारा से प्रभावित था और इसमें सत्याग्रह के तत्वों को महत्व दिया गया। तिनकठिया पद्धति (किसानों को भूमि के 3/20वें हिस्से पर नील की खेतरी करना अनिवार्य था) प्रचलित होने के कारण किसानों का शोषण चरम पर था। भूस्वामियों का खेत के लिए बढ़ता हुआ कर और किसानों की आवश्यकताओं का नील की खेती से पूरा न हो पाना इस आंदोलन के क्रियान्वयन का प्रमुख कारण था। यह आंदोलन भी पूर्णरूपेण सफल रहा और अंग्रेज़ सरकार को किसानों के आगे झुकना पड़ा।

खेड़ा सत्याग्रह (1918)

चंपारण की सफलता के पश्चात गांधी जी ने 1918 में गुजरात के खेड़ा किसानों को लेकर आंदोलन चलाया। अकाल और आर्थिक तंगी के बावजूद अंग्रेज़ सरकार ने लगान की वसूली में कोई कमी नहीं की और इसके कारण गरीब किसानों और खेतिहर मजदूरों की स्थिति अत्यंत दयनीय हो गई थी। शुरू में किसानों ने छूट की मांग की, परंतु इस मांग को ठुकरा दिया गया। आगे चलकर यह आंदोलन के रूप में परिणित हो गया। किसानों की जायज़ मांग को लेकर समर्थन में समाचार पत्रों में कई लेख व संपादकीय

निकाले गए और अहिंसक विरोध प्रदर्शन किए गए। अंततः किसानों की मांग को उचित मानते हुए अकाल की विशिष्ट दशा को ध्यान में रहते हुए अंग्रेज़ सरकार ने समझौता कर लिया।

बारदोली सत्याग्रह (1920-39)

यह आंदोलन सूरत (गुजरात) के बरदोली तालुका में 1920 में चलाया गया। इस आंदोलन में न केवल कुनबी-पाटीदार जातियों के भूस्वामियों ने हिस्सा लिया, अपितु जनजातियों ने भी इसमें अपनी उपस्थिति दर्ज की। आगे चलकर इसका नेतृत्व सरदार वल्लभ भाई पटेल द्वारा किया गया। यह आंदोलन मूल रूप से भूमि लगान दर में वृद्धि किए जाने के कारण शुरू हुआ था। यह राष्ट्रीय आंदोलन का सबसे संगठित, व्यापक व सफल आंदोलन रहा। अंततः भूमि का लगान कर में मात्र 5 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी की गई और 12 अगस्त, 1939 को यह आंदोलन पूर्ण सफलता के साथ समाप्त हो गया।

मोपला विद्रोह (1921)

मोपला विद्रोह केरल के मलाबार क्षेत्र में मोपलाओं द्वारा 1921 में किया गया था, जो अंग्रेज़ सरकार के विरोध में हुआ था। महात्मा गांधी, शौकत आली, मौलाना अबुल कलाम आजाद जैसे नेताओं का सहयोग इस विद्रोह को प्राप्त था। इस आंदोलन के प्रमुख नेता के रूप में अली मूलियार का नाम उल्लेखनीय है। इस आंदोलन का सूत्रपात एरनद व वल्लूवानद तालुका में खिलाफत आंदोलन के विरुद्ध की गई अंग्रेज़ दमनात्मक कारवाई के विरोध में हुआ। आगे चलकर यह आंदोलन मुस्लिम मोपलाओं द्वारा चलाया गया और यह हिंदू तथा ब्रिटीशों के खिलाफ हो गया। इसने हिंदूमुस्लिम सांप्रदायिक आंदोलन का रूप ले लिया, परंतु जल्द ही इस आंदोलन को समाप्त कर दिया गया।

तेभागा आंदोलन (1946)

यह आंदोलन बंगाल में 1946 में कंपाराम सिंह और भवन सिंह केनेतृत्व में किया गया था। यह आंदोलन जोतदार व बटाईदारों के विरोध में किया गया था और इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य लगान की दर एक तिहाई करना था। किसान सभा के आह्वान पर इस आंदोलन में लगभग 50 लाख किसानों ने भागीदारी की और बड़ी मात्रा में इसे खेतिहर किसानों का समर्थन प्राप्त था। इस संघर्ष ने तमाम प्रतिकूल प्रचार व सांप्रदायिक उकसावे का मुक़ाबला करते हुए एकता का अद्भुत परिचय दिया। किसानों ने तीव्र पुलिस दमन और अत्याचारों का सामना करते हुए नवंबर, 1946 से लेकर फरवरी, 1947 के दौरान फसल के दो तिहाई हिस्से पर अपने कब्जे को बनाए रखा।

2.6 नारीवादी आंदोलन

हालांकि नारीवादी आंदोलन स्वतंत्रता से पूर्व भारत में पूर्ण रूप से महिला अथवा नारी केंद्रित नहीं रहा तथापि कई सामाजिक मुद्दों में से नारी उत्थान भी एक अहम मुद्दे के रूप में रहा है। भारत में पश्चिम समाजों के जैसे इसका कोई स्पष्ट स्वरूप परिलक्षित नहीं होता है। मध्यकालीन भारत में महिलाओं की स्थिति अत्यंत निम्न हो चुकी थी, यथा- सती प्रथा, बाल विवाह, पर्दा प्रथा, विधवा पुनर्विवाह पर निषेध,हिंदू

क्षेत्रीय शासकों की बहु विवाह प्रथा, राजस्थान के राजपूतों में महिलाओं की जौहर प्रथा, देवदासी प्रथा आदि। 19वीं सदी के आरंभ से ही समाज सुधारकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने इसके खिलाफ प्रयास आरंभ कर दिए। इसमें प्रमुख रूप से आर्य समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन जैसे संगठन सम्मिलित हैं। प्रमुख पुरुष समाज सुधारकों में से राजराम मोहन राय, दयानंद सरस्वती, ईश्वर चंद्र विद्यासागर, डॉ. धोंडो, केशव कर्वे, स्वामी विवेकानंद, सैयद अहमद खान, बदरुद्दीन तैयब जी, गांधी, अंबेडकर के नाम उल्लेखनीय है। 1910 और 1920 के दशक में कई आंदोलनों में महिलाओं की उपस्थिति भी देखी जाने लगी। 19वीं सदी के सुधार आंदोलनों व स्वतंत्रता संग्राम में भागीदारी के रूप में महिलाओं ने स्वयं को प्रबल तरीके से प्रस्तुत किया। धीरे-धीरे महिला संगठनों की स्थापना की जाने लगी, यथा- भारतीय महिला संघ (1917), भारतीय महिलाओं की राष्ट्रीय परिषद तथा अखिल भारतीय महिला सम्मेलन (1927)। प्रमुख महिला समाज सुधारकों में हैं- सावित्री ज्योतिबा फुले, ताराबाई शिंदे, पंडिता रमाबाई, स्वर्णकुमारी देवी, सिस्टर निवेदिता, सरोजिनी नायडू, एनी बेसेंट, कमला नेहरू, रोकैया सखावत हुसैन, डॉ. मुथु लक्ष्मी रेड्डी, दीदी सुब्बुलक्ष्मी, अरुणा आसफ अली, कमला देवी, विजय लक्ष्मी पंडित। इसके अलावा सरकार द्वारा कई प्रावधान व कार्यक्रमों द्वारा भी महिलाओं की स्थित में उत्तरोत्तर परिवर्तन लाने के प्रयास किए गए हैं।

2.7 सारांश

इस इकाई में स्वतंत्रता पूर्व के भारत में चलाए प्रमुख सामाजिक आंदोलनों के बारे में चर्चा की गई है, जिसमें समाज सुधार आंदोलन, पर्यावरणीय आंदोलन, किसान आंदोलन व नारीवादी आंदोलन के रूप में चार वर्ग बनाए गए और इन वर्गों के तहत कुछ महत्वपूर्ण आंदोलनों व गतिविधियों को सम्मिलित किया गया है।

ज्ञान शांति मैत्री

2.8 बोध प्रश्न

बोध प्रश्न 1: आर्य समाज को विश्लेषित कीजिए।

बोध प्रश्न 2: सत्यशोधक समाज के विचारों पर प्रकाश डालिए।

बोध प्रश्न 3: रामकृष्ण मिशन की स्थापना हेतु उत्तरदायी कारकों पर प्रकाश डालिए और इस आंदोलन को भी स्पष्ट कीजिए।

बोध प्रश्न 4: बिश्नोई आंदोलन का उल्लेख कीजिए।

बोध प्रश्न 5: किसान आंदोलनोंपर विस्तृत चर्चा कीजिए।

बोध प्रश्न 6: टिप्पणी कीजिए-

1- ब्रह्म समाज 2- नारीवादी आंदोलन

2.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

प्रसाद, ग. (2007). *आधुनिक समाज की समस्याएँ.* नई दिल्ली: डिस्कवरी पब्लिशिंग हाऊस

शर्मा, के.एल. (2006). *भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन.* जयपुर: रावत पब्लिकेशन

सिंह, श.भ. (2012). *भारतीय समाज की आधारभूत संरचना.* दिल्ली: डिंपल कम्प्यूटर्स

परमार, श. (2015). *नारीवादी सिद्धांत और व्यवहार.* नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई 3
भारत में सामाजिक आंदोलन (स्वतंत्रता पश्चात)

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 स्वतंत्र्योत्तर भारत में हुये प्रमुख सामाजिक आंदोलन
3.3 भूदान और ग्रामदान आंदोलन
3.4 कृषक आंदोलन
3.5 पर्यावरणीय आंदोलन
3.6 नारीवादी आंदोलन
3.7 अन्ना आंदोलन (भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन)
3.8 सारांश
3.9 बोध प्रश्न
3.10 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप –

- स्वतंत्र भारत में विभिन्न सामाजिक आंदालनों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- इन आंदोलनों के प्रभाव का विश्लेषण कर सकेंगे।

ज्ञान शांति मैत्री

3.1 प्रस्तावना

स्वतंत्र भारत में अनेक प्रकार के परिवर्तन नियोजित हुए और इन परिवर्तनों ने कई समस्याओं को भी जन्म दिया तथा साथ ही साथ कई समस्याओं का उन्मूलन भी कार्यक्रमों व परियोजनाओं के माध्यम से करने का प्रयास किया गया। जिन समस्याओं के प्रति जनसमूह व संगठनों का असंतोष उत्पन्न हुआ उनके लि् कुछ आंदोलन क्रियान्वित हुए। उन्हीं आंदोलनों में से कुछ प्रमुख आंदोलनों का विवरण इस इकाई में प्रस्तुत किया जा रहा है।

3.2 स्वतंत्रयोत्तर भारत में हुए प्रमुख सामाजिक आंदोलन

परिवर्तन संसार का शाश्वत नियम है और समाज भी इससे अछूता नहीं है। परिवर्तन होने से कई व्यवस्थाएँ चरमरा जाती हैं और उनमें परिवर्तन हो जाता है, परंतु मनुष्य द्वारा भौतिक वस्तुओं की तुलना में अपनी परंपराओं और मूल्यों को परिवर्तित कर पाने में समय लगता है। इस कुसमायोजन की स्थिति के कारण असंतोष व्याप्त हो जाते हैं। इस असंतोष की परिणति के रूप में आंदोलन क्रियान्वित होते हैं। स्वतंत्रोत्तर भारत में हुए प्रमुख सामाजिक आंदोलन निम्न हैं-

- भूदान और ग्रामदान आंदोलन
- तेलंगाना आंदोलन
- नक्सलवाड़ी आंदोलन
- चिपको आंदोलन
- नर्मदा बचाओ आंदोलन
- सेवा
- शाहबानो प्रकरण
- अन्ना आंदोलन

3.3 भूदान और ग्रामदान आंदोलन

आचार्य विनोबा भावे द्वारा 1951 में इस आंदोलन को चलाया गया था। उनकी कोशिश यह थी कि भूमि का पुनर्वितरण सिर्फ कानूनी माध्यम से न हो, अपितु एक सामाजिक आंदोलन के माध्यम से इसके लिए सफल कोशिश की जाए। आचार्य का मानना था कि भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में व्यापक रूप से भूमि सुधार लाने के लिए भूदान ही एक मात्र उपाय है। यह आंदोलन लोगों का हृदय परिवर्तित कर सामाजिक न्याय की प्रेरणा देता है। भूदान आंदोलन को सफल बनाने के लिए विनोबा ने गांधीवादी विचारों का अनुकरण करते हुए रचनात्मक कार्यक्रम और ट्रस्टीशिप जैसे विचारों का प्रयोग किया। उनके द्वारा सर्वोदय समाज की स्थापना की गई और यह रचनात्मक कार्यकर्ताओं का अखिल भारतीय संघ था। इसका मूल उद्देश्य अहिंसात्मक ढंग से देश में सामाजिक परिवर्तन के बीज का रोपण करना था।

18 अप्रैल 1951 को तेलंगाना क्षेत्र में पोचमपल्ली गाँव में विनोबा को जमीन का पहला दान मिला। यह भूदान आंदोलन का आरंभ था। इसके बाद वह गाँव-गाँव घूमकर भूमिहीन लोगों के लिए भूमि का दान करने की मांग करने लगे और उन्होंने इस दान को महात्मा गांधी के अहिंसा के सिद्धांत से संबंधित कार्य बताया। विनोबा पदयात्राएँ करते थे और घर-घर जाकर बड़े भूस्वामियों से अपनी भूमि का कम-से-कम छठा भाग भूदान के रूप में भूमिहीन किसानों को देने हेतु अनुरोध करते थे। आंदोलन के आरंभ में ही पाँच

करोड़ एकड़ जमीन दान में हासिल करने का लक्ष्य रखा गया था। उस वक्त जयप्रकाश नारायण (, जो कि तत्कालीन प्रजा सोशलिस्ट पार्टी (PSP) के नेता थे) भी 1953 में भूदान आंदोलन में सम्मिलित हो गए थे। आंदोलन के शुरुआती दिनों में विनोबा ने तेलंगाना क्षेत्र के लगभग200 गाँवों की यात्रा की और उन्हें दान में 12,200 एकड़ भूमि प्राप्त हुई। इसके पश्चात यह आंदोलन उत्तर भारत में फैला और बिहार व उत्तर प्रदेश में इसका व्यापक प्रभाव परिलक्षित हुआ। अप्रैल 1954 के अंत तक 32 लाख एकड़ भूमि भूदान में दान की जा चुकी थी और इसमें से 20 लाख एकड़ भूमि व्यावहारिक रूप से अच्छी थी। भूदान करने वालों की संख्या 2,30,000 थी, जिनमेंसे एक-तिहाई के बारे में कहा जाता है कि उनका हृदय परिवर्तित हो चुका था। 60,000 एकड़ भूमि 20,000 परिवारों में आवंटित की गई।

वर्ष 1957 को भूमि क्रांति वर्ष के रूप में माना जाता है। इस वर्ष तक आते-आते कुल 42 लाख एकड़ भूमि आंदोलनमें दान की जा चुकी थी। वास्तव में यह भूदान एक बड़ी मात्रा में हुआ, परंतु यह अभी भी निर्धारित लक्ष्य से बहुत कम था। 1955 में आंदोलन ने एक नया स्वरूप अख़्तियार कर लिया और इसे 'ग्रामदान' के नाम से जाना जाने लगा। इसका आशय था 'सारी भूमि गोपाल की'। ग्रामदान वाले गांवों की सारी भूमि पर सामूहिक स्वामित्व माना गया। इसका आरंभ उड़ीसा से हुआ और इसे भी काफी सफलता प्राप्त हुई।1960 तक देश में 4,500 से अधिक गावों को ग्रामदान आंदोलन के माध्यम से दान किया जा चुका था। इनमें से 1946 गाँव उड़ीसा और 603 गाँव महाराष्ट्र के थे। विशिष्ट स्थानों पर इस आंदोलन की सफलता के बारे में कुछ विद्वान मानते हैं कि ग्रामदान वाले विचार उन्हीं स्थानों पर सफल हुए जहाँ वर्ग भेद नही उभरा था और वह क्षेत्र आदिवासियों का ही था।

समय बीतने के साथ-साथ 60 के दशक तक भूदान और ग्रामदान आंदोलन कमज़ोर पड़ गया। 70 के दशक के अंत में भूदान में प्राप्त भूमि का केवल30 प्रतिशत भाग ही वास्तव में भूमिहीनों को आवंटित हुआ और जिन भूमिहीनों को भूमि बांटी गई थी, उनमें से अधिकांश इसका लाभ नहीं ले पाए। इसके कई कारण थे और कहा जाता है कि यह आंदोलन अपने मूल उद्देश्य से भटक गया था, जिसके कारण यह असफल सिद्ध होता है, परंतु यदि इस आंदोलन के दूसरे पक्ष पर विचार करें तो इसने बड़े पैमाने पर लोगों का हृदय परिवर्तित किया था। उस आंदोलन ने भूस्वामियों पर एक नैतिक दबाव अवश्य बना लिया था और उन्हें भूमिहीनों के प्रति सहयोग की भावना से निर्मित वातावरण में मिला लिया था।

3.4 कृषक आंदोलन

कृषक आंदोलन, भारतीय कृषक सामाजिक संरचना को परिवर्तित करने अथवा बदलाव का विरोध करने के उद्देश्य से कृषक जनसमूह का एक सामूहिक व संगठित प्रयत्न है जो किसी वैचारिक मत के तहत मूर्त रूप ग्रहण करता रहा है। यद्यपि भारत में कृषक आंदोलन विशिष्ट कालों में और विशिष्ट उद्देश्यों से आयोजित रहा है, तथापि इसके आयोजन का मूल प्रयोजन निम्न बिंदूओं को माना जा सकता है

1. कृषक सामाजिक संरचना को शोषण मुक्त व समतामूलक समाज के रूप में व्यवस्थित करना।

2. कृषक संबंधों में विद्यमान तत्कालीन शोषण को नष्ट करना और लगान के बढ़ते बोझ के प्रति विरोधी रवैया अख़्तियार करना।
3. व्यापारी, ठेकेदार अथवा किसी अन्य द्वारा कृषकों के शोषण का विरोध प्रदर्शन करना।
4. भूमि के स्वामित्व को बनाए रखने की माँग आधारित आंदोलन करना।
5. राज्य से कृषि से संबंधित सुविधा व कृषि उत्पाद के लिएउचित मूल्य की प्राप्ति हेतु संघर्ष करना।

सामान्य तौर पर उक्त उद्देश्यों को लेकर भारत में कृषक आंदोलनों का स्वरूप संघर्षरत रहा है। यहाँ कुछ प्रमुख रूप से दो कृषक आंदोलनों पर चर्चा प्रस्तुत की जा रही है-

- तेलंगाना आंदोलन
- नक्सलवाड़ी आंदोलन

तेलंगाना आंदोलन

तेलंगाना आंदोलन 1946 के मध्य कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में शुरू हुआ और अक्टूबर 1951 तक चलता रहा। यह मुख्य रूप से हैदराबाद में सामंतों के बिचौलियों, पुलिस और निजाम के राजकारों के द्वारा हो रहे अप्रत्याशित शोषण व सामंती मनोवृत्तियों के विरोध में किया गया एक संगठित कृषक प्रयास था। इस आंदोलन का मुख्य प्रयोजन रैयतवारी जागीरदारी व्यवस्था में मौजूद शोषणकारी प्रवृत्ति का उन्मूलन करके समता आधारित कृषक संबंधों को स्थापित करना था।

ब्रिटिशकाल में सार्जेंटशिप के तहत हैदराबाद निजमों द्वारा शासित था, जिसमें तेलंगाना क्षेत्र आधे से अधिक राज्य क्षेत्र में विस्तारित था। लगान की दर ऊंची कर दिए जाने के कारण छोटे रैयत ऋणग्रस्त होते चले गए और इसका परिणाम यह हुआ कि बड़े रैयतों के पास भूमि का केंद्रीकरण होता चला गया। इसके कारण छोटे रैयतों को विवश होकर बड़े रैयतों की भूमि पर ऊंचे लगान दर पर खेती करना पड़ा। इसके अलावा निम्न कारक भी महत्वपूर्ण हैं, जो उस दौरान घटित होने वाली प्रमुख गतिविधियाँ थीं–

- 1929-34 की आर्थिक मंदी के दौरान बढ़ी मुद्रास्फीति छोटे किसानों के लिए प्रतिकूल थी, जबकि बड़े किसानों के लिए अनुकूल।
- व्यापारिक फसलों के उपजाने के कारण बड़े किसानों के पास धन का संचयन।
- वेट्टी व्यवस्था और वेट्टी-चाकरी व्यवस्था के तहत बड़े भू-स्वामियों व जागीरदारों द्वारा भूमिहीन कृषकों का शोषण करना।

उपर्युक्त परिस्थितियों के कारण किसानों में असंतोष व्याप्त होने लगा और फलतः 1946 में कम्युनिष्ट पार्टी के अंतर्गत इस आंदोलन की नींव पड़ी। इस आंदोलन ने शांत संघर्ष से लेकर गुरिल्ला युद्ध तक के सफर को तय किया। इस आंदोलन की प्रमुख उपलब्धियाँ निम्न हैं–

1. कृषक वर्ग में स्वयं के प्रति हो रहे शोषण के विरोध में वर्ग चेतना जागृत हुई और वे समतामूलक समाज की स्थापना व स्वयं के हितों को लेकर संगठित हुए। अन्य क्षेत्रों में भी कृषक समाज की संस्थागत संरचना में सुधार हेतु हिंसात्मक संघर्ष प्रारम्भ हो गए।
2. कृषकों की स्थिति में सुधार हेतु सरकार द्वारा भूमि सुधार व अन्य कार्यक्रमों को नियोजित करना।
3. अन्य संगठनों का ध्यान भी इस शोषण के प्रति आकृष्ट हुआ और भूदान आंदोलन को इसकी परिणति के रूप में संदर्भित किया जा सकता है।
4. कृषक संबंधों में तनाव व संघर्ष के भाव का सृजन हुआ, जिसकी अभिव्यक्ति नक्सलवाड़ी आंदोलन के रूप में उभरी।
5. कृषक संबंधों का राजनीतिकरण हुआ।

नक्सलवाड़ी आंदोलन

पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग के नक्सलवाड़ी गाँव के स्थानियों की भूमि संबंधित शोषणकारी व्यवस्था से व्याप्त असंतोष के परिणामस्वरूप यह आंदोलन 1967 में आरंभ हुआ। कान्हू सान्याल और पंचानन सरकार के नेतृत्व में इस आंदोलन ने कई अन्य क्षेत्रों में भी प्रसिद्धि प्राप्त की। यह आंदोलन प्रमुख रूप से मार्क्सवादी, लेनिनवादी और माओवादी विचारधारा से प्रभावित रहा है और यह व्यवस्था में अमूलचूल परिवर्तन को महत्व देता है। 1747-67 के बीच पश्चिमी बंगाल की भूमि पर जोतदारी-अधियारी पद्धति का प्रचलन था। यहाँ की अधिकांश भूमि पर बड़े जमींदारों का आधिपत्य स्थापित था और वे भूमिहीनों को कृषि हेतु भूमि देते थे। भूमिहीनमज़दूर अथवा अधियार/जोतदार उस भूमि पर कृषि कार्य करते थे और बदले में जमींदारों को भूमि पर उपजे अनाज का आधा भाग देते थे। साथ-ही-साथ अधियारों को अपने ही आधे हिस्से में बीज प्रयोग और पशुधन आदि में खर्च वहन करने हेतु जमींदारों को चुकाने पड़ते थे। अर्थात् कुल मिलकर जोतदारों को भूमि पर उपजे अनाज का 1/4 या 1/5 हिस्सा ही प्राप्त हो पाता था। भूमि और कृषि संबंधों में शोषण अपने चरमोत्कर्ष पर था। अधियार उपज के इतने कम भाग से अपना और अपने परिवार का भरण पोषण कर पाना उनके लिए धीरे-धीरे दुष्कर होता चला गया। जीवन निर्वाह के लिए उन्हें ऊंचे ब्याज पर ऋण लेना पड़ता था और उस ऋण के भुगतान हेतु उन्हें अत्यधिक श्रम और बेगार भी करना पड़ता था। इन विकृत परिस्थितियों के परिणामस्वरूप अधियारों की आर्थिक-सामाजिक स्थिति लगातार बिगड़ती चली गई और भूमि के समुचित संरक्षण न हो पाने के कारण उन्हें या तो जमींदारों द्वारा भूमि पर कृषि से बेदखल कर दिया गया अथवा उन्हें कम मज़दूरी पर श्रम को बेचना पड़ा और उनके ऋण का बोध दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया।

आजाद भारत में जमीदारी उन्मूलन को वैधानिक अस्तित्व प्राप्त हुआ और उसे समाप्त कर दिया गया, परंतु उन्मूलन के पश्चात भी यह शोषण की कुव्यवस्था समाप्त नहीं होती, वरन इसकी ऊपरी संरचना में केवल हेर-फेर होता है। अब भूमि पर जमींदारों के स्थान पर बड़े जोतदारों का शासन लागू हो गया। भूस्वामियों ने भूमि पर अपना आधिपत्य बनाए रखा। कुछ भूमियों को अपने नाम पर, तो कुछ को अपने

परिवार के अन्य सदस्यों के नाम पर, तो कुछ को अपने संबंधियों के नाम पर हस्तांतरित करके अपना आधिपत्य जमाए रखा। अर्थात् जमीदारी उन्मूलन के पश्चात भी पूर्व की शोषण प्रणाली विद्यमान रही। तत्कालीन समय में औद्योगिक विकास की दर धीमी होने के कारण स्थानियों को वैकल्पिक रोज़गार के स्रोत भी उपलब्ध नहीं हो पाए। इन वीभत्स परिस्थितियों और दोषपूर्ण प्रणाली के कारण स्थानीय लोगों के मध्य रोष और असंतोष की भावना उत्पन्न हो गई। इन परिस्थितियों से उपजे क्षोभ ने आंदोलन की पृष्ठभूमि को तैयार किया।

नक्सलवाड़ी आंदोलन का मुख्य उद्देश्य एक शोषणविहीन, समतामूलक समाज को स्थापित करना था, जिसमें सभी के पास भूमि पर आधिपत्य हो और वे अपने जीवन निर्वाह की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा कर सके। मार्क्सवादी, लेनिनवादी और माओवादी विचारधारा से प्रेरित होने के कारण गुरिल्ला युद्ध द्वारा सत्ता पर आधिपत्य और व्यवस्था में पूर्ण रूप से परिवर्तन लाने का प्रयास इसके मूल में निहित था। यह आंदोलन आरंभ में कान्हू सान्याल के नेतृत्व में निश्चित रणनीति के तहत कार्य कर रहा था, जिसमें काटकर लाए गए अनाज को इकट्ठा कर उस पर लाल झंडा गाड़ देना, फसलों की रक्षा हेतु शस्त्र का उपयोग करना, पुलिस से अपने अनाजों की सुरक्षा करना आदि सम्मिलित था। आगे चलकर यह आंदोलन चारु मजूमदार के निर्देशन में संचालित हुआ, जिसमें उक्त प्रशिक्षण प्राप्त कैडरों को गुरिल्ला युद्ध पद्धति से नई रणनीति को अपनाकर व्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन की ओर रुख किया गया।

अधियारी व्यवस्था के विरोध में नक्सलवाड़ी क्षेत्र में किसान सभा (साम्यवादियों द्वारा समर्थित समाज) द्वारा विस्तृत प्रयत्न किए गए, परंतु इसका कोई व्यावहारिक लाभ नहीं मिल पाया। इस प्रयास से यह तो स्पष्ट हो चुका था कि कानून की चहारदीवारी में रहकर इस शोषणयुक्त व्यवस्था से निजात पाना संभव नहीं है। इसके बाद आंदोलन ने क्रांतिकारी रूप धारण किया और अवैधानिक तरीके से शोषण के विरूद्ध संघर्ष प्रारंभ किया। नक्सलवाड़ी किसान सभा की बैठक में कान्हू सान्याल ने जोतदारों की सभी उपज को हथियाने की घोषणा की। यह आंदोलन तब शुरू हुआ, जब नृपेन्द्र घोष, विरेन घोष, जतीन घोष आदि जैसे नेताओं के साथ कई अधियारों ने नक्सलवाड़ी गाँव के भगवान दयाल सिंह की भूमि पर उपजे अनाज को अपनी माँग के रूप में अभिव्यक्त किया और अधियारों को अनाज को अपने घर ले जाने का निर्देश दिया। तत्कालीन आंदोलन की प्रमुख मांगेंथीं–

- ❖ व्यावहारिक तौर पर जमीनदारी व्यवस्था का उन्मूलन
- ❖ भूमि को जोतने वाले अधियारों का जोत पर आधिपत्य
- ❖ ऋण पर 25 प्रतिशत ब्याज को निश्चित करना

आगे चलकर आंदोलन ने क्रांतिकारी रूप ग्रहण कर लिया और पुलिस की दमनात्मक कार्यवाही के परिणामस्वरूप कान्हू सान्याल और तात्कालिक कई बड़े नेताओं को कैद कर लिया गया। इससे आंदोलन को एक गहरा आघात लगा , परंतु शीघ्र ही चारु मजूमदार जैसे नेता की उपस्थिती से आंदोलन पुनः

क्रियाशील हो गया। चारु मजूमदार का मानना था कि शोषण के तत्व इस सामंतवादी प्रणाली में ही निहित हैं। अतः शोषण को समाप्त करने के लिए इस सामंती व्यवस्था की संरचना को परिवर्तित करना होगा। इसके लिए उन्होंने गुरिल्ला युद्ध पद्धति को अपनाकर अधियारों को इस अंदोलन में सम्मिलित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि गुप्त रूप से हत्याएँ होनी प्रारंभ हो गई बंदूकें छीनी जाने लगीं और इस आंदोलन ने वीभत्स रूप धारण कर लिया। अब यह आंदोलन पूरी तरह से भूमिगत हो गया।

इस आंदोलन की उपलब्धियाँ निम्न हैं–

- ❖ कृषक वर्ग अपने विरुद्ध क्रियाशी शोषणयुक्त प्रणाली के प्रति सचेत हुए और अपने हित के लिए संगठित हुए।
- ❖ भूमिहीन कृषकों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हुई।
- ❖ सरकार और अन्य लोकतांत्रिक संगठनों द्वारा भूमिहीन कृषकों की व्यवस्था में सुधार हेतु अनेक प्रयास किए गए।
- ❖ इस आंदोलन ने संसदीय वामपंथियों की राजनैतिक असफलता को प्रकट किया, जिसनेसाम्यवादियों को पुनर्विचार हेतु प्रेरित किया।
- ❖ इस आंदोलन के प्रभाव स्वरूप अनेक कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों द्वारा सत्ता पर राजनीतिक आधिपत्य प्राप्त करने के लिए संगठित संघर्ष हुए जिसनेसत्तारूढ़ वामपंथियों को चुनौती दी॥

3.5 पर्यावरणीय आंदोलन

विकास के आधुनिक मॉडल के परिणामस्वरूप कई पर्यावरणविदों व सामान्य जन का ध्यान इसके दुष्परिणामों की ओर आकृष्ट हुआ और इस ध्यान से उत्पन्न असंतोष ने ही पर्यावरण आंदोलनों की पृष्ठभूमि को तैयार किया। यहाँ मूल रूप से दो आंदोलनों के बारे मेंवर्णन किया जा रहा है–

- चिपको आंदोलन
- नर्मदा बचाओ आंदोलन

चिपको आंदोलन

चिपको आंदोलन की शुरुआत सन्1973 में उत्तराखंड के चमौली ग्राम (तब उत्तर प्रदेश था) में हुआ था। इस आंदोलन में किसानों ने सूखे वृक्षों की कटाई का शांत और अहिंसक विरोध किया था। यह आंदोलन तब शुरू होता है, जब वन विभाग ने कृषि उपकरण बनाने वाले एक स्थानीय संगठन 'दसौली ग्राम स्वराज्य संघ' को एक वृक्ष देने से मना कर दिया और वन विभाग ने एक निजी कंपनी को वृक्ष दे दिया। इस घटना से आक्रोशित होकर उक्त संघ के नेतृत्व में सभी ग्रामीण लकड़ी से भरे ट्रकों के आगे एलईटी गए और लकड़ी के गोदाम में आग लगा दी। इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य व्यवसाय के लिए हो रही वनों की कटाई पर रो लगाना था और इसे रोकने के लिए बाद में महिलाएँ पेड़ों से चिपक कर खड़ी हो गई।

पेड़ों की नीलामी के प्रति स्थानीय महिला गौरा देवी व अन्य महिलाओं द्वारा विरोध किया गया, परंतु ठेकेदार और सरकार पर इस विरोध का कोई असर नजर नहीं आया। बाद में एक नेता चंडी प्रसाद भट्ट के नेतृत्व में इस प्रयास ने एक प्रभावकारी आंदोलन का रूप ले लिया। फलतः महिलाएँ पेड़ों से चिपक कर खड़ी हो गई और वे कहने लगी कि पहले हमें काटो फिर इन पेड़ों को भी काट लेना। चिपको आंदोलन का घोषवाक्य था–

क्या हैं जंगल के उपकार, मिट्टी, पानी और बयार।
मिट्टी, पानी और बयार, जिंदा रहने के आधार॥

प्रारंभ में इस आंदोलन की मांगें आर्थिक थीं, यथा-वनों और वनवासियों का शोषण करने वाली ठेकेदारी व्यवस्था का उन्मूलन कर वन श्रमिकों की न्यूनतममज़दूरीका निर्धारण, नया वन बंदोबस्त और स्थानीय छोटे उद्योगों के लिए रियायती कीमत पर कच्चे माल की आपूर्ति। शनैः शनैः चिपको आंदोलन परंपरागत अल्पजीवी विनाशकारी अर्थव्यवस्था के विरुद्ध स्थायी अर्थव्यवस्था-परिस्थितिकी का एक सशक्त जनआंदोलन के रूप में परिणित हो गया। अब आंदोलन कीमांगें बदल गई, यथा- हिमालय के वनों की प्रमुख उपज राष्ट्र के लिए जल है और कार्य मिट्टी बनाना, सुधारना और उसे स्थिरता प्रदान करना है। इसलिए अभी हरे पेड़ों की कटाई तब तक (10 से 25 वर्ष) स्थगित रखी जानी चाहिए, जब तक राष्ट्रीय वन नीति के घोषित उद्देश्यों के अनुसार हिमालय में कम-से-कम 60 प्रतिशत क्षेत्र पेड़ों से आच्छादित न हो जाए। मृदा और जल संरक्षण करने वाले इस प्रकार के पेड़ों का रोपण किया जाना चाहिए, जिनसे लोग भोजन आदि की मूलभूत आवश्यकतों को पूरा कर सकें। मोटे तौर पर यह आंदोलन निम्न मांगों पर आधारित था–

1. व्यवसाय हेतु पेड़ों की कटाई पर रोक लगाई जाए।
2. परंपरागत अधिकारों को लोगों की न्यूनतम आवश्यकताओं के आधार पर वरीयता दी जाए।
3. वृक्षों के प्रबंधन हेतुग्रामीण समितियों की व्यवस्था की जाए।
4. वन से संबंधित कुटीर उद्योगों का संवर्धन हो और इसके लिए कच्चे माल धन व तकनीकों को मुहैया कराया जाय।
5. वृक्ष लगाने में लोगों की भागीदारी को सुमिश्चित किया जाए और सूखे व ऊसर वनों को हरा-भरा बनाया जाए।
6. स्थानीय परिस्थितियों, आवश्यकताओं और क़िस्मों पर आधारित पौधकरण को वरीयता प्रदान की जाए।

इस प्रकार से इस आंदोलन ने पौधकरण और मृदा अपरदन जैसी आधारभूत मुद्दों पर अपना ध्यान आकृष्ट किया। इस आंदोलन ने 1980 में एक बड़ी जीत हासिल की और तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने

प्रदेश के हिमालयी वनों में वृक्षों की कटाई पर अगले 15 वर्षों के लिए रोक लगा दी। सन् 1987 में इस आंदोलन को सम्यक जीविका पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

नर्मदा बचाओ आंदोलन

नर्मदा बचाओ आंदोलन भारत में क्रियाशील पर्यावरण आंदोलनों की परिपक्वता का उदाहरण है।यह आंदोलन नर्मदा नदी परियोजना से उभरा है। नर्मदा नदी परियोजना भारत के तीन प्रमुख राज्यों गुजरात, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र से संबंधित परियोजना है। सन् 1987 से नर्मदा नदी पर तैयार की जा रही नर्मदा घाटी परियोजना (, जिसमें दो महापरियोजनाएँ सम्मिलित हैं- प्रथम, गुजरात में सरदार सरोवर परियोजना और द्वितीय, मध्य प्रदेश में नर्मदा सागर परियोजना) सबसे बड़ी एवं बहुउद्देशीय नदी घाटी परियोजना है जो सिंचाई, उत्पादन, बिजली, पेयजल आपूर्ति, बाढ़ व सूखे की संभावनाओं पर प्रतिबंध लगाने के प्रयोजन से नियोजित है। यह परियोजना तो बहुत ही लाभप्रद प्रतीत होती है, परंतु इसके परिणाम भी बहुत ही भयप्रद हैं। अनुमानतः इस जलाशय में 37,000 हेक्टेयर भूमि जलमग्न हो जाएगी और इस जलमग्न भूमि में 11,000 हेक्टेयर वन सम्मिलित हैं। साथ ही इससे 248 गाँव में निवासरत लगभग एक लाख लोग विस्थापित हो जाएँगे।

उपरोक्त भयप्रद परिणामों की प्रतिध्वनि के रूप में सर्वप्रथम स्थानीय लोगों द्वारा इसका विरोध प्रदर्शन किया गया और यह विरोध प्रमुख रूप से पुनर्वास से संबंधित था। उसके बाद स्थानीय स्वयंसेवी संगठनों द्वारा इसे एक जन आंदोलन के रूप में संगठित किया गया और विस्थापन, पुनर्वास, आजीविका, संस्कृति आदि प्रकार की समस्याओं को उठाया गया। इस परियोजना के विरोध ने अब एक जन आंदोलन के रूप में विकराल रूप धारण कर लिया था। 1980- 87 के दौरान जनजातियों के अधिकारों की समर्थक गैर-सरकारी संस्था अंक वाहनी के नेता अनिल पटेल ने जनजातीय लोगोंके पुर्नवास के अधिकारों को लेकर हाईकोर्ट व सर्वोच्च न्यायालय में याचिका दायर की। सर्वोच्च न्यायालय के आदेशों के परिणामस्वरूप गुजरात सरकार ने दिसंबर, 1987 में एक पुर्नवास नीति की घोषणा की। दूसरी ओर 1988 में इस आंदोलन ने औपचारिक रूप से नर्मदा घाटी परियोजना से संबंधित सभी कार्यों पर रोक की माँग की। इससे लड़ने के लिए लाखों लोग अपने घरों से बाहर निकले और यह प्रतिज्ञा की कि वे वापस घरों में जाने की अपेक्षा डूब जाना पसंद करेंगे। 1989 में मेघा पाटेकर द्वारा लाए गए नर्मदा बचाओ आंदोलन ने सरदार सरोवर परियोजना तथा इससे विस्थापित लोगों के पुर्नवास की नीतियों के क्रियान्वयन की कमियों पर प्रकाश डाला। इस आंदोलन के कारण विश्व बैंक ने सरदार सरोवर परियोजना से अपने हाथ खींच लिए और एक हद तक यह आंदोलन सफल रहा। यथा–

1. 1993 में मन सरोवर से विश्व बैंक का प्रस्थान
2. 1994-99 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा सरोवर बांध की निर्मिति पर प्रतिबंध
3. 1999-2000 में महेश्वर बांध से विदेशी निवेशकों ने अपने हाथ वापस लिए
4. सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रभावित लोगों के पुनर्वास का आदेश

5. 2003 में राष्ट्रीय पुनर्वास नीति की स्वीकारोक्ति
6. 2005 में सूचना के अधिकार की प्राप्ति

3.6 नारीवादी आंदोलन

मानवातावादी परिप्रेक्ष्य में महिलाओं की स्थिति में उत्तरोत्तर परिवर्तन लाने के लिए और समानता के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु महिलाओं के नेतृत्व में संगठित प्रयास के रूप में विरोध व संघर्ष हुए हैं। नीचे दो नारीवादी आंदोलनों का उल्लेख किया जा रहा है–

- सेवा
- शहबानो प्रकरण

हालांकि चिपको आंदोलन, अप्पिको आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलन को भी कुछ विद्वानों द्वारा नारीवादी आंदोलन के तहत माना गया है।

सेवा

महिलाओं द्वारा कार्यरत एक ट्रेड यूनियन के रूप में1972 में सेवा (सेल्फ एम्प्लायड वुमेन्स एसोसिएशन) का अभ्युदय हुआ। इसका इतिहास टेक्सटाइल लेबर एसोसिएशन से संबंधित था। इस आंदोलन से परिवार में कार्यरत महिलाओं की सहायता की गई। वे उन्हें विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण, यथा- सिलाई, कढ़ाई, कटाई, टंकण, प्रेस आदि देते थे। इसे महिलाओं के लिए स्वरोज़गार उपलब्ध कराने वाले एक संगठन के रूप में समझा जा सकता है। सेवा के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं–

- मजदूरों के लिए रोज़गार की व्यवस्था
- आय की सुरक्षा
- खाद्य की सुरक्षा
- सामाजिक सुरक्षा
- महिलाओं के लिए आत्मनिर्भरता

शहबानो प्रकरण

यद्यपि औपनिवेशिक भारत में अनेक आंदोलन हुए और अनेक सुधारक भी हुए, जिन्होंने समाज में अप्रत्याशित तौर पर परिवर्तन किए हैं, तथापि नारीवादी आंदोलनों के हित का कुछ-न-कुछ अछूता ही रह गया। शाहबानो का मामला उसी प्रकार का एक आंदोलन है, जो काफ़ी विवादास्पद है। 1985 में घटित इस पर्सनल लॉ के मामले को 'शाहबानो केस' के रूप में जाना जाता है। 23 अप्रैल को उच्चतम न्यायालय की मुख्य न्यायाधीश चंद्रचूड़ के नेतृत्व में पाँच सदस्यीय पीठ ने यह पाया कि शाहबानो(75 वर्ष) धारा 125 के तहत अपने पति से गुजारा भत्ता प्राप्त करने की हकदार हैं। शाहबानो के पति मोहम्मद

अहमद खान ने उन्हें विवाह की लगभग आधी शताब्दी गुज़र जाने के बाद तलाक दे दिया। दस वर्ष पूर्व अपने पति द्वारा दबाव दिए जाने के कारण उन्हें अपने बच्चों के साथ एक दालान में निवास करने हेतु विवश होना पड़ा। इस घटना के दो वर्ष बाद तक शाहबानो के पति ने उसे 200 रुपये का मासिक भुगतान दिया, परंतु एक दिन अनायास ही भत्ता देने से इनकार कर दिया। 1978 में शाहबानो ने इंदौर के मजिस्ट्रेट के यहाँ धारा 125 के अंतर्गत प्रार्थना-पत्र दिया और गुजारा भत्ता प्राप्त करने हेतु अधिकतम राशि(, जो कि 500 है) की अपील की। शाहबानो की याचिका अभी लंबित ही थी कि उनके पति ने कुरान के मुताबिक तीन बार तलाक कहकर तलाक लेने का फैसला कर लिया और न्यायालय में मेहर की राशि 3000 रुपये भी जमा करा दिए। मजिस्ट्रेट ने माना कि वो भत्ते कि हकदार हैं और उसने 25 रुपये प्रति माह की रकम को भत्ते के रूप में निश्चित किया। इसके बाद शाहबानो ने मध्यप्रदेश के उच्च न्यायालय में अपील की, जिसनेयह राशि बढ़ाकर 179.20 रुपये कर दिया।

इसके बाद अहमद खान उच्चतम न्यायालय गए और अपील की कि यह अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण है और यह मुस्लिम पर्सनल लॉ का उल्लंघन है। उनका तर्क था कि वह मुसलमान हैं और इसके नाते यह मुस्लिम पर्सनल लॉ का मसला है। अतः इसका निपटारा उसी के तहत होना चाहिए। साथ ही कई दस्तावेजों के आधार पर उन्होंने कहा कि शरीयत के तहत एक शौहर को अपनी पत्नी से तलाक के बाद मात्र तीन महीने तक गुजारा भत्ता देना चाहिए। हालांकि इस तर्क के एवज में न्यायमूर्ति चंद्रचूड़ ने स्पष्ट रूप से कोई निर्णय नहीं दिया, लेकिन उन्होंने सरकार को समान नागरिक संहिता को बनाने का सुझाव अवश्य दिया। एक ऐसी संहिता, जो व्यक्तिगत क़ानूनों (पर्सनल लॉ) से ऊपर हो और वह सभी के लिए समान हो। धारा 125 के तहत इससे पहले भी दो मुस्लिम महिलाओं के गुजारा भत्ता का मामला आया था और उनका निर्णय भी इसी प्रकार था, जिसमें उनका भत्ता बहाल रखा गया– पहला, 1979 में बाई ताहिरा और अली हुसैन फिसाली का मामला और दूसरा 1980 में फुजलुंबी और खादर अली का मामला। इन मामलों के निष्कर्षों ने पूरे मसले को ही परिवर्तित कर दिया। नारीवादियों, उदारवादियों और धर्मनिरपेक्षतावादियों द्वारा उच्चतम न्यायालय के फैसले की इस आधार पर आलोचना की जाने लगी कि इसने धर्म और व्यक्तिगत कानून के मुद्दे को एक-दूसरे के समक्ष लाकर रख दिया। धीरे-धीरे यह मामला एक धार्मिक संघर्ष में परनित हो गया। मुस्लिम धार्मिक नेताओं का मानना था कि उच्चतम न्यायालय का यह निर्णय उनके पूरे समुदाय पर हमला है। उलेमाओं ने 'इस्लाम खतरे में है' का फतवा जारी किया और अल्पावधि में ही यह दावा सांप्रदायिक संघर्ष में परिवर्तित हो गया। मुस्लिम संप्रदावादियों कि अपील थी कि निर्णय को बदला जाए और धारा 125 से मुस्लिम महिलाओं को अलग किया जाए तथा हिंदू संप्रदायवादियों ने न्यायालय के निर्णय का पुरज़ोर समर्थन किया।

अगस्त 1985 में मुस्लिम महिलाओं को धारा125 की परिधि से बाहर निकालने की नियत से एक विधेयक बनाया गया। मुस्लिम उदारवादियों, नारीवादियों और समाज सुधारकों द्वारा पूरे भारत में खासकर महाराष्ट्र में धारा 125 के समर्थन में बहुपत्नी विरोध और मुस्लिम महिलाओं को गुजारा भत्ता व संरक्षण

की अपील के साथ अभियान शुरू हुआ। मुंबई(तत्कालीन बंबई), हैदराबाद, लखनऊ, भोपाल आदि स्थानों पर संघर्ष उभरने लगे। अक्टूबर 1984 में एक हिंदू संगठन, विश्व हिंदू परिषद ने अयोध्या में बाबरी मस्जिद के परिसर को राम जन्मभूमि की घोषणा और राम मंदिर को बनाने को लेकर आंदोलन शुरू किया। इससे भीषण संघर्ष पनपा और प्रत्युत्तर के रूप में मुस्लिम धार्मिक नेताओं द्वारा बाबरी मस्जिद एक्शन कमिटी की स्थापना की गई। अब शाहबानो और बाबरी मस्जिद के मामलों को एक साथ देखा जाने लगा। फरवरी 1986 में बाबरी मस्जिद-राम मंदिर विवाद के दौरान ही मंदिर में पूजा-अर्चना हेतु ताला खोल दिया गया। फलस्वरूप विश्व हिंदू परिषद ने 'विजय जुलूस' निकाला और मुस्लिम समुदायों ने प्रतिशोध के रूप में 'मातम जुलूस' निकाला। इसके परिणामस्वरूप कई दंगे और संघर्ष हुए। अंततः धारा 125 के तहत मुस्लिम महिलाओं के संरक्षण को खारिज कर दिया गया और तर्क यह दिया गया कि तलाक के तीन महीनों के पश्चात भरण-पोषण की जिम्मेदारी समाप्त हो जाती है। विधेयक के लागू होने पर जबर्दस्त हंगामा हुआ और संसद के समक्ष ही150-200 महिलाओं ने गिरफ्तारी दी।

स्वायत्त महिला संगठनों द्वारा 7 मार्च को संगठित होकर प्रदर्शन किए और उनकी अपील थी कि महिलाओं के मुद्दों का संप्रदायीकरण बंद हो और समान नागरिक संहिता का निर्माण किया जाए। इस बारे में एक दिलचस्प वाकया यह है कि 1986 में मुस्लिम महिला विधेयक को पारित किया गया, जिसमें मुस्लिम महिलाओं को अपने पति से भरण्पोषण नहीं मिलेगा और उन्हें गुजारा भत्ता वक्फ बोर्ड (यह एक संस्था है, जो सामुदायिक आधार पर प्राप्त भूमि की देखरेख करती है) से मिलेगा। कुल मिलाकर यह आंदोलन निर्णायक रूप से महिलाओं की एकता को सुदृढ़ करने में कारगर साबित हुआ और सांप्रदायिक तौर पर एकीकरण और संघर्ष उत्पन्न करने में भी इसकी भूमिका प्रमुख रही।

3.7 अन्ना आंदोलन (भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन)

जन लोकपाल विधेयक की निर्मिति हेतु यह आंदोलन अपने अखिल भारतीय स्वरूप में 5 अप्रैल 2011 को अन्ना हजारे और उनके सहयोगियों द्वारा जंतर-मंतर पर अनशन के साथ शुरू हुआ था। इसे जन लोकपाल विधेयक आंदोलन और भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन के नाम से भी जाना जाता है। यह भारत का राष्ट्रव्यापी जनान्दोलन है, जिसके द्वारा देश में भ्रष्टाचार के विरुद्ध कठोर कानून बनाने की अपील की गई। इस आंदोलन में अन्ना के सहयोगियों में अरविंद केजरीवाल, भारत की पहली महिला प्रशासनिक अधिकारी किरण बेदी, प्रसिद्ध लोकधर्मी वकील प्रशांत भूषण, पतंजलि योगपीठ के संस्थापक और योग गुरु बाबा रामदेव प्रमुख थे। अन्ना हजारे का भ्रष्टाचार आंदोलन देश में भ्रष्टाचार पर बात करने वाला पहला आंदोलन नहीं है इसके पहले जय प्रकाश नारायण के आंदोलन में भी भ्रष्टाचार के मसले पर व्यापक तौर पर विमर्श छेड़ा जा चुका था, परंतु फिर भी यह आंदोलन देश में हुए अन्य आंदोलनों से अलग है। जय प्रकाश नारायण ने भी अपने आंदोलन में भ्रष्टाचार के मुद्दे पर बात की , परंतु इनका आंदोलन मूलतः 'मुसहरी आंदोलन' था और इनके आंदोलन में भ्रष्टाचार का मुद्दा आंशिक रूप में था,

परंतु अन्ना के आंदोलन में भ्रष्टाचार के मुद्दे को उस स्वरूप में पेश किया गया,जिस रूप में भ्रष्टाचार पर अभी तक किसी भी आंदोलन में बात नहीं की गई। एक लोकतांत्रिक राज्य के रूप में भ्रष्टाचार को भारत की शासकीय संस्थाओं और शासक वर्ग को सीधे तौर पर एकदूसरे से अंतर्संबंधित करके देखा गया। भ्रष्टाचार का इतने वृहत पैमाने पर प्रसिद्ध होना इसलिए संभव हो सका क्योंकि सूचना के अधिकार का प्रयोग और मीडिया द्वारा इस संदर्भ में सकारात्मक भूमिका का निर्वहन किया गया। सामाजिक खर्च और योजनाओं में घोटालों के उजागर होने के पीछे मनीष सीसोदिया और अरविंद केजरीवाल की संस्था परिवर्तन के कार्य है, जिसनेइन घोटालों का पर्दाफाश करने में योगदान दिया।

संचार साधनों के विकास होने के कारण यह अनशन आसानी से पूरे भारत में फैल गया और धीरे-धीरे एक बड़ा जनसमूह इसके समर्थन में सड़कों पर उतर गया। इन्होंने भारत सरकार से एक मजबूत भ्रष्टाचार विरोधी लोकपाल विधेयक बनाने की अपील की और अपनी अपील के अनुसार सरकार को लोकपाल का एक मसौदा भी दिया था, परंतु मनमोहन सिंह के नेतृत्व वाली तत्कालीन कांग्रेसी सरकार ने इसके प्रति उदासीन रवैया अपना और इसकी उपेक्षा की। इसके फलस्वरूप हुए अनशन के प्रति भी तत्कालीन सरकार का रवैया उदासीन ही रहा। हालांकि इस अंशना के आंदोलन के रूप में परिणित होने पर सरकार ने शीघ्र ही एक समिति निर्मित की और 16 अगस्त तक लोक विधेयक को पास कराने की बात को संसद में स्वीकारोक्ति भी दे दी गई। अगस्त से आरंभ हुये मानसून सत्र में एकविधेयक को पारित किया गया , परंतु वह अपेक्षाकृत कमज़ोर था और लोकपाल के विपरीत था। अन्ना हजारे ने इसके विरोध में पुनः अनशन पर बैठने की बात की और जब वे अनशन के लिए तैयार होकर जा रहे थे की तभी दिल्ली पुलिश ने अन्ना हजारे को गिरफ़्तार कर लिया। साथ-ही-साथ उनके कई सहयोगियों को भी गिरफ्तार कर लिया गया। सरकार की इस प्रवृत्ति से उद्वेलित जनता ने प्रदर्शन करने आरंभ कर दिए। अन्ना द्वारा मजिस्ट्रेट की बात न मानने पर उन्हें तिहाड़ जेल में सात दिनों के लिए भेज दिया गया। इस बात ने पूरे देश में आक्रोश पैदा कर दिया और फलतः अगले 12 दिनों तक देश में व्यापक स्तर पर धरना, प्रदर्शन और अनशन हुए। इन बातों से सरकार ने सशर्त अन्ना को रिहा करने का आदेश दिया, परंतु अन्ना ने उनकी शर्तों को मानने से साफ तौर पर मना कर दिया। इसके फलस्वरूप अन्ना ने जेल में ही अनशन जारी रखा और जेल के सामने हजारों लोग उनके समर्थन में डेरा डाले रहे। इसके बाद अन्ना को 15 दिनों के लिए रामलीला मैदान में अनशन हेतु अनुमति मिली। अन्ना ने रामलीला मैदान में अनशन के दसवें दिन अपने अनशन को समाप्त करने के लिए सार्वजनिक रूप से तीन शर्तों को प्रस्तुत किया। ये तीन शर्तें थीं–

- सभी सरकारी कर्मचारियों को लोकपाल के दायरे में लाया जाए।
- सभी सरकारी कार्यालयों में एक नागरिक चार्टर लगाया जाए।
- सभी राज्यों में लोकायुक्त हों।

अंततः संसद द्वारा इन तीनों शर्तों पर सहमति का प्रस्ताव पास देने के बाद 28 अगस्त को अन्ना ने अपना अनशन स्थगित करने की घोषणा की।

3.8 सारांश

इस इकाई के माध्यम से स्वतंत्र भारत में हुए सामाजिक आंदोलनों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इन आंदोलनों में भूदान व ग्रामदान आंदोलन, तेलंगाना आंदोलन, नक्सलवादी आंदोलन, चिपको आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलन, सेवा, शाहबानो प्रकरण और अन्ना आंदोलन का उल्लेख किया गया है।

3.9 बोध प्रश्न

बोध प्रश्न 1: भूदान व ग्रामदान आंदोलन के बारे में विस्तृत विवरण प्रस्तुत कीजिए।

बोध प्रश्न 2: नक्सलवाड़ी आंदोलन को स्पष्ट कीजिए।

बोध प्रश्न 3: पर्यावरणीय आंदोलनों में से दो आंदोलनों चिपको और नर्मदा बचाओ आंदोलन के बारे में विवरण प्रस्तुत कीजिए।

बोध प्रश्न 4: टिप्पणी कीजिए-

1- तेलंगाना आंदोलन
2- सेवा
3 – शाहबानो प्रकरण
4- अन्ना आंदोलन

3.10 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

कुमार, र. (2002).*स्त्री संघर्ष का इतिहास.* नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन

पाण्डेय, एस.एस. (2009). *समाजशास्त्र*. नई दिल्ली: टाटा मैगरा हिल एजुकेशन प्राइवेट लिमिटेड

चक्रवर्ती, व. एवं पाण्डेय, र.क. (2012).*आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन.* नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशन इंडिया प्राइवेट लिमिटेड

शाह, घ. (2009). *भारत में सामाजिक आंदोलन.* जयपुर: रावत पब्लिकेशन

सिंह, व.ए. एवंसिंहज. (2005). *भारत में सामाजिक आंदोलन.* जयपुर: रावत पब्लिकेशन

सरस्वती, स. स. (2012). *किसान आंदोलन की वैचारिक पृष्ठभूमि* दिल्ली: ग्रांथशिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड

परमार, श. (2015). *नारीवादी सिद्धांत और व्यवहार.* नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड

मील, स. (2013). *अन्ना से अरविंद तक.* दिल्ली: अनन्यप्रकाशन

इकाई 4
नव सामाजिक आंदोलन एवं विमर्श

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 प्रमुख नव सामाजिक आंदोलन
4.3 पर्यावरणीय आंदोलन
4.4 नारीवादी आंदोलन
4.5 मानवाधिकार आंदोलन
4.6 छात्र आंदोलन
4.7 नव सामाजिक आंदोलनों का विमर्श
4.8 सारांश
4.9 बोध प्रश्न
4.10 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप–

- नव सामाजिक आंदोलनों के परिदृश्य और संरचना को समझसकेंगे।
- इन आंदोलनों के प्रभाव को विश्लेषित कर सकेंगे।

4.1प्रस्तावना

सामाजिक आंदोलनों को लंबे समय से चले आ रहे निरंतर सामूहिक प्रयास के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। सामान्य तौर पर ये ऐसे प्रयत्न होते हैं, जो सरकार की नीतियों के विरुद्ध खड़े होते हैं और परिवर्तन के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। नव सामाजिक आंदोलन भी परिवर्तन की माँग ही करते हैं, परंतु इनमें वे आंदोलन आते हैं, जिन माँगों को अभी तक नज़रंदाज़ कर दिया गया था अथवा अत्यंत कम महत्व दिया गया था।

4.2 प्रमुख नव समाजिक आंदोलन

मोटे तौर पर, अस्मितापरक आंदोलनों को नव सामाजिक आंदोलन की संज्ञा दी जा सकती है। भारत में इन आंदोलनों का आरंभ 70 के दशक से माना जाता है। प्रमुख नव सामाजिक आंदोलनों में पर्यावरणीय आंदोलनों, नारीवादी आंदोलनों, मानवाधिकार आंदोलनों व छात्र आंदोलनों को शामिल किया जा सकता है।

4.3 पर्यावरणीय आंदोलन

पर्यावरणीय आंदोलन न सिर्फ भारत, अपितु पूरे विश्व में चर्चा का पर्याय बन चुका है। आज वैश्विक स्तर पर पर्यावरण राजनीति का अंग बन चुका है। यदि पर्यावरण को वैज्ञानिक नज़रिए से विश्लेषित किया जाए, तो इसका अभिप्राय है, संपूर्ण विश्व, जिसमें जीव-जंतु तथा उनके प्रकृतिक निवास व जल, वायु, मृदा आदि की एक अंतर्संबंधित संरचना है। विश्व के आधुनिकमॉडल के परिणामस्वरूप उत्पन्न पर्यावरणीय समस्याओं के प्रतिरोध के रूप में उत्पन्न आंदोलनों को पर्यावरणीय आंदोलन केनाम से जाना जाता है। यहाँ प्रमुख पर्यावरणीय आंदोलनों को प्रस्तुत किया जा रहा है जो निम्न हैं–

- चिपको आंदोलन
- अप्पिको आंदोलन
- नर्मदा बचाओ आंदोलन
- चिल्का बचाओ आंदोलन

उपर्युक्त लिखित चार आंदोलनों में से चिपको आंदोलन और नर्मदा बचाओआंनदोलन के बारे में चर्चा इस इकाई में पहले ही की जा चुकी है, अतः पुनः उनका विवेचन करना औचित्यपूर्ण नहीं प्रतीत होता है।

अप्पिको आंदोलन

चिपको आंदोलन के पश्चात कर्नाटक के उत्तर-पश्चिमी घाट की निवासियों द्वारा किया गया अप्पिको चलैवरी आंदोलन सन् 1983 में किया गया। अप्पिको कन्नड़ भाषा का शब्द है, जिसका कन्नड़ में अर्थ चिपको होता है। इस क्षेत्र के प्रकृतिक वनों को ठेकेदार द्वारा काट दिया गया था, जिसके परिणामस्वरूप मृदा अपरदन हुआ और जलस्रोत सूखने लगे। सिरसों ग्राम के निवासियों को आजीविका हेतु झाड़ियाँ, सूखे टहनियों को इकट्ठा करने व चारा, शहद आदि वनोत्पादों को प्राप्त करने के प्रथागत अधिकारों से वंचित कर दिया गया। कुछ समय के पश्चात ग्रामीणों ने पाया कि उनके गावों के चरो ओर से जंगल धीरे-धीरे गायब होता जा रहा है। इसका परिणाम सितंबर 1983 में आंदोलन के रूप में निकाला और चिपको आंदोलन की ही भाँति महिलाएँ पेड़ों से लिपट गई। स्थानीय लोगों ने ठेकेदारों से पेड़ काटने और वृक्षों को गिराने पर प्रतिबंध की मांग की। उन्होंने अपनी आवाज बुलंद कर कहा कि हम व्यापारिक प्रायोजनों के

लिए पेड़ों को बिल्कुल भी नहीं कटने देंगे और पेड़ों पर चिपककर दृढ़ता से बोले कि यदि पेड़ काटने हैं, तो उसके लिए पहले हमारे ऊपर कुल्हाड़ी चलाओ। वे वृक्षों के लिए अपने जीवन को भी कुर्बान करने को तैयार हो गए।

जंगल में लगातार 38 दिनों तक चले विरोध आंदोलन ने सरकार को पेड़ों की कटाई पर प्रतिबंध लगाने का आदेश देने के लिए मजबूर किया। यह आंदोलन इतना लोकप्रिय हो गया कि पेड़ काटने आए मज़दूर भी पेड़ों की कटाई छोडक़र चले गए। अप्पिको आंदोलन दक्षिणी भारत में पर्यावरण जागृति का पर्याय बना। इसने इस बात पर प्रकाश डाला कि किस प्रकार वन विभाग की नीतियों से वृक्षों के बजरीकरण को बढ़ावा दिया जा रहा है, जो जनसाधारण को रोज़मर्रा में उपयोग होने वाले कई आवश्यक संसाधनों से वंचित कर रहा है। इसने इस प्रक्रिया में संलग्न ठेकेदारों, वन विभाग के कर्मचारियों तथा राजनीतिज्ञों की साँठ-गाँठ का भी पर्दाफाश किया। यह आंदोलन अपने तीन उद्देश्यों की पूर्ति में सफल रहा–

- जंगल में विद्यमान वृक्षों की रक्षा करना।
- वन भूमि में पुनः वृक्षारोपण करने में।
- प्राकृतिक संसाधनों का ध्यान रखते हुए वन संपदा का उपयोग करना।

अप्पिको आंदोलन ने पश्चिमी घाट के सभी गांवों में व्यापारिक हितों से उनकी आजीविका के साधन, जंगलों तथा पर्यावरण को होने वाले खतरे और उससे उत्पन्न चुनौतियों के प्रति सचेत किया। अप्पिको ने शांतिपूर्ण तरीके से गांधीवादी मार्ग पर चलते हुए एक ऐसे पोषणकारी समाज के लिए लोगों का मार्ग प्रशस्त किया , जिसमें न कोई मनुष्य का ओर न ही प्रकृति का शोषण कर सके।

चिल्का बचाओ आंदोलन

उड़ीसा में स्थित एशिया की सबसे बड़ी खारे पानी की झील का गौरव चिल्का को प्राप्त है, जिसकी लंबाई 72 कि.मी.व चौड़ाई 25 कि.मी. और क्षेत्रफल लगभग 1000 वर्ग कि.मी. है। इस झील पर 192 गांवों की आजीविका निर्भर करती है, जो मत्स्य पालन, खासकर झींगा मछली से जीवन निर्वाह करते हैं। दो लाख से अधिक जनसंख्या और 50,000 से अधिक मछुआरे अपनी आजीविका के लिए चिल्का पर आश्रित है। 1986 में, तत्कालीन पटनायक सरकार ने चिल्का में 1400 हेक्टेयर झींगा प्रधान क्षेत्र को टाटा तथा उड़ीसा सरकार की संयुक्त कंपनी को पट्टे पर देने निर्णय लिया। इसका विरोध मछुवारों के साथ-साथ विपक्षी राजनीतिक पार्टी जनता दल ने भी किया, जिसके कारण जनता दल को विधानसभा की सभी पांचों सीटों पर जीत मिली, लेकिन 1989 में जनता दल के सत्ता में आने पर परिस्थिति फिर परिवर्तित हो गई और परिणाम 1991 में जनता दल की सरकार द्वारा झींगा प्रधान क्षेत्र के विकास हेतु टाटा कंपनी को संयुक्त क्षेत्र कंपनी बनाने के लिए आमंत्रण के रूप में परिलक्षित हुआ।

इस आमंत्रण ने एक संघर्ष की आधारशिला को निर्मित किया। चिल्का के 192 गाँवों के मछुआरों ने 'मत्स्य महासंघ' के अंतर्गत संगठित होकर अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करना आरंभ किया और

उनके साथ इस संघर्ष में उट्टकल विश्वविद्यालय के छात्रों ने भी बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। 15 जनवरी, 1992 में गोपीनाथपुर गाँव में यह संघर्ष जन आंदोलन के रूप में परिणित हो गया, परंतु इस पर जब सरकार की ओर से कोई सकारात्मक रवैया नहीं अपनाया गया, तब चिल्का क्षेत्र के स्थानीय लोगों ने उट्टकल विश्वविद्यालय के छात्रों द्वारा गठित संगठन 'क्रांतिदर्शी युवा संगम' के सहयोग से चिल्का के अंदर बनाए गए बांध को तोड़ना आरंभ किया। अंतत दिसंबर, 1992 में उड़ीया सरकार को टाटा को दिए गए पट्टे के अधिकार को खारिज करना पड़ा।

4.4 नारीवादी आंदोलन

अन्य सामाजिक समूहों की तरह भारतीय महिलाएँ औपनिवेशिक भारत और स्वतंत्रोत्तर भारत में सामाजिक आंदोलन में अपनी भूमिका दर्ज करती रही हैं। समाज के सभी पहलुओं में भेदभावपूर्ण व्यवहार की शिकार महिलाएँ व उनकी समस्याएँ स्वतंत्रातापूर्व काल में सामाजिक सुधारकों की चिंता का पर्याय बनी हुई थी। स्वतंत्र्योत्तर काल में बड़ी मात्र में जनसाधरण, विद्वानों और विभिन्न विचार धाराओं को मानने वाले संगठन आदि ने महिलाओं के मुद्दे परज़ोर डाला। संविधान में भी महिलाओं के उत्थान के लिए विशिष्ट प्रावधानों की व्यवस्था की गई है, परंतु भारतीय समाज व्यवस्था की संरचना पितृसत्तात्मक है, जिसमें महिलाओं की स्थिति दोयम दर्जे की मानी जाती है। भारतीय समाज में नारीवादी आंदोलन का स्वरूप शहरी और ग्रामीण समाजों में भिन्न-भिन्न प्रकार का है। ग्रामीण नारीवादी आंदोलनों के मूल मुद्दे इस प्रकार है- घरेलू हिंसा के विरुद्ध आंदोलन, शराब बिक्री का विरोध, दहेज का विरोध, बलात्कार का विरोध आदि। शहरी महिलाओं का हित ग्रामीण महिलाओं से अलग है समाज कार्य के लिए समान वेतन, कार्य स्थल पर यौन शोषण पर प्रतिबंध, कार्य स्थल पर महिलाओं को पर्याप्त सुरक्षा मुहैया कराना आदि, लेकिन दोनों समाजों में एक समानता है कि दोनों समाजों की महिलाएँ शोषण का शिकार हुई हैं। भारत में महिलावादी नव सामाजिक आंदोलन की शुरुआत पार्टी के आधार पर हुई।1978 में साम्यवादी दल से संबंधित अखिल भारतीय जनवादी महिला समिति (AIDWA)की स्थापना हुई। AIDWA और NFIW (1954 में महिला आत्मरक्षा समिति के अरुन आसफ अली द्वारा नेशनल फेडरेशन ऑफ इंडियन वुमेन की स्थापना की गई) द्वारा कामकाजी महिलाओं के मुद्दे पर काम किया गया। इन दोनों संस्थाओं मे सार्वजनिक जीवन में कार्यरत महिलाओं की समस्या को दूर करने के लिए।1972 में SEWA (सेल्फ इम्प्लोएड वुमेन एसोशीएशन) की स्थापना द्वारा महिलाओं को पुरुषों के बराबर वेतन देने परज़ोर दिया गया और महिलाओं के घरेलू कार्य के महत्व पर भी प्रकाश डाला गया। ईला भट्ट की अध्यक्षता में SEWA ने असंगठित श्रम क्षेत्र की महिलाओं को सूत्रबद्ध करने का प्रयत्न किया। देविका जैन और बीना मजूमदार ने अवैतनिक व घरेलू काम के महत्व के प्रति सजग कराया और उसे कम न माने जाने का मुद्दा उठाया। 1980 के दशक में महिलावादी आंदोलन अखिल भारतीय हो गया। राजस्थान में रूप कँवर को अपने पति की चिता पर बलपूर्वक बैठा दिए जाने के विरोध में महिलाओं ने देशव्यापी आंदोलन चलाया।

लोकतांत्रिक भारत के 60 वर्ष से अधिक बीत चुके हैं। हालांकि महिलाओं की स्थिति में निर्णायक सुधार हुआ है, लेकिन महिलाओं की स्थिति आज भी दोयम दर्जे की शोषित और वंचित है। यद्यपि समाज में सभी महिलाओं की समस्या लगभग एकसमान है , परंतु कुछ लोगों द्वारा धार्मिक आधार पर, जातीय आधार पर महिलावादी आंदोलन को विभाजित करने का प्रयास किया जा रहा है। 1985 के 'शाहबानो वाद' के मुस्लिम गुजारा भत्ता जैसे गंभीर मुद्दे पर आवाज उठाने केपश्चात उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट रूप में कहा है कि महिलाओं को गुजारा भत्ता दिया जाना चाहिए, लेकिन कुछ अराजक तत्वों के दबाव के कारण तत्कालीन राजीव गांधी सरकार ने सिविल प्रक्रिया में संशोधन कर दिया, जिसके अनुसार गुजारे भत्ते प्राप्त करने का अधिकार मुस्लिम महिलाओं को नहीं है। वर्ष 2006 में फिर से'इमराना वाद' पर धर्मिक विवाद महत्वपूर्ण हो गया, जबकि सभी धर्म की महिलाओं के हित समान है। समकालीन महिलावादी आंदोलनों का प्रमुख मुद्दा महिलाओं के पारंपरिक हुनर और कौशलता का मूल्यांकनसमान वेतन पर ज़ोर व नवीन आर्थिक नीति का विरोध आदि बना हुआ है।

4.5 मानवाधिकार आंदोलन

मानवाधिकार पद का प्रयोग वर्तमान समय में सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनकारियों द्वारा ऐसे संदर्भ में किया जाता है, जो नैसर्गिक, हमारे स्वभाव में अंतर्निष्ठ और जिनके बिना हम मनुष्य के रूप में जीवन बसर नहीं कर सकते। इन अधिकारों का राज्य द्वारा हनन नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि राज्य की सत्ता से इन अधिकारों की रक्षा किए जाने की आवश्यकता है। भारत में मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 के अनुसार- मानव अधिकारों से अभिप्राय संविधान द्वारा समझौतों में निहित अधिकारों से है, जो स्वतंत्रता, समानता और गरिमामयी जीवन की दिशा में अग्रेसित रखे। इंदिरा गांधी द्वारा 25 जून 1975 को आपातकाल लगाने से नागरिक अधिकार आंदोलन को प्रेरणा मिली। मूल अधिकारों को यह कहकर निलंबित कर दिया गया कि इनका प्रयोग सुविधासंपन्न वर्ग द्वारा अधिकांश व्यक्तियों के हितों हेतु नियोजित कार्यक्रमों के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने के लिए किया जाता है। इसने ऐसे बौद्धिक, राजनीतिक परिवेश को जन्म दिया, जिसनेनागरिक और लोकतांत्रिक अधिकार आंदोलनों के वर्तमान स्वरूप को निर्मित किया। वर्तमान समय में कई राज्यों में मानव अधिकारों से संबंधित समूह हैं। 1976 में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में पीपल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज एंड डेमोक्रेटिक राइट्स संगठन का गठन किया गया। कुछ समय के पश्चात यह संगठन दो भागों में बंट गया–

- पीपल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज (PUCL)
- पीपल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स (PUDR)

यह विभाजन मूल रूप से वैचारिक आधार पर ही था। PUCL नागरिक अधिकारों और लोकतांत्रिक अधिकारों को अलग करता है और समान्यतः लोकतांत्रिक अधिकार इसके कार्यक्षेत्र की परिधि से बाहर

रहते हैं। यह संगठन उदारवादी प्रकृति का है, जो जन आंदोलन के स्थान पर संवैधानिक कदम उठाने पर ज़ोर देता है। वहीं PUDR का मानना है कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है और उन्हें उस प्रकार के आंदोलनों का समर्थन करना चाहिए, जो शोषित वर्गों के सामाजिक-आर्थिक मसलों को उठाते हैं।

इनके अलावा भी अन्य महत्वपूर्ण और सक्रिय राज्य स्तरीय संगठन हैं, जो इस क्षेत्र में उल्लेखनीय काम करते हैं–

- आंध्र प्रदेश नागरिक संघ (APCLC)
- लोकतांत्रिक अधिकारों हेतु संघ, पंजाब (AFDR)
- लोकतांत्रिक अधिकारों के रक्षण हेतु संघ, महाराष्ट्र (CPDR)
- लोक संघ अधिकार, गुजरात
- मानव अधिकारों हेतु नागा लोगों का आंदोलन, नागालैंड
- प्रजातंत्र हेतु नागरिकगण, दिल्ली व मुंबई

4.6 छात्र आंदोलन

नव सामाजिक आंदोलन में छात्र आंदोलन अथवा विद्यार्थी आंदोलन का स्थान महत्वपूर्ण रहाहै। चूँकि छात्र समाज का सबसे जागरूक वर्ग होता है और किसी भी आंदोलन को मूर्त रूप दिए जाने हेतु छात्रों का सक्रिय सहयोग अपेक्षित होता है। भारत देश के अनेक भागों में अलग-अलग समय पर छात्र आंदोलन शिक्षा की समस्याओं से लेकर राजनीतिक मुद्दों तक क्रियाशील होते रहेहैं। 1953 और 1958 में क्रमशः लखनऊ विश्वविद्यालय और बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में छात्रों द्वारा बृहत स्तर पर उपद्रव हुए और इसके पीछे प्रमुख कारक कई नगरों (लखनऊ, ग्वालियर, इंदौर, कलकत्ता, जयपुर और इलाहाबाद) में 1950 के दशक में छात्रों पर पुलिस द्वारा गोलीय चलना था। इस छात्र असंतोष को 'विद्यार्थी अनुशासनहीनता' कहा गया। शिक्षा आयोग के अनुसार वयस्कों में अनुशासन का गिरता स्तर और उनकी नागरिक चेतना व निष्ठा में कमी ही विद्यार्थी अनुशासनहीनता के लिए उत्तरदायी है। बाद में हुए कई अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि छात्र आंदोलन का एक प्रमुख कारण बढ़ती हुई बेरोज़गारी है। छात्र ऐसे तत्कालीन मुद्दों को लेकर भी विरोध करते हैं, जो उन्हें विद्यार्थी के रूप में प्रभावित करते है। कक्षा में कमरों और हॉस्टल में अधिक और बेहतर आधारभूत सुविधाओं को लेकर किया गया आंदोलन, फीस वृद्धि हेतु किया गया आंदोलन, परीक्षाओं का संचालन, कॉलेज तथा विश्वविद्यालय प्रशासन के विरोध में भी छात्र आंदोलन होते हैं। रॉस ने छात्र आंदोलन अथवा विरोध के लिए पाँच कारकों को महत्वपूर्ण माना है–

- राजनीतिक विरोध
- नैतिक विरोध
- आर्थिक विरोध
- शैक्षणिक (शिक्षा विषयक) विरोध
- आनंद के लिए विरोध

शिक्षा आयोग ने शिक्षा व्यवस्था से संबंधित कुछ ऐसे कारकों की सूची दी है, जो छात्र आंदोलन के लिए उत्तरदायी कारक हैं-

- विभिन्न समस्याओं में अध्यापन व अधिगम की अपर्याप्त सुविधाएँ
- अनेक अध्यापकों में अध्यापन-कौशल की कमी
- अपर्याप्त विद्यार्थी अध्यापक संपर्क
- अनेक पाठ्यक्रम संबंधी कार्यक्रम की पुरातन और असंतोषजनक प्रकृति

4.7 नव सामाजिक आंदोलनों का विमर्श

आरंभिक दौर में समाज में व्याप्त असंतोष के कारण आंदोलन किए गए। उन आंदोलनों के बारे में एक खास बात यह थी कि सामान्य तौर पर वे आंदोलन समाज के सभी आयामों में निहित असंतोष के निपटारे से संबंधित थे। धीरे-धीरे समय परिवर्तित हुआ और विद्वानों का यह मानना है कि 70 के दशक के बाद से होने वाले आंदोलन अस्मिता और अस्तित्व उन्मुखी होने लगे। इन आंदोलनों को नव सामाजिक आंदोलन की संज्ञा दी गई। इन नव सामाजिक आंदोलनों में यह बात तो सामान्य तौर पर निहित थी कि ये किसी एक वर्ग अथवा समस्या पर फोकस थे और यह अस्तित्व से संबंधित था। इन आंदोलनों में प्रमुख आंदोलन जो प्रसिद्ध हुए, उनमें नारीवादी आंदोलन, पर्यावरणीय आंदोलन, मानवाधिकार आंदोलन, छात्र आंदोलन, भ्रष्टाचार आंदोलन सम्मिलित हैं।

4.8 सारांश

इस इकाई में नव सामाजिक आंदोलनों के बारे में संज्ञान कराने का प्रयास किया गया है, जिसमें प्रमुख आंदोलनों में अप्पिको आंदोलन, चिल्का बचाओ आंदोलन, नारीवादी आंदोलनों, मानवाधिकार आंदोलनों व छात्र आंदोलनों के बारे में बोध कराया गया है। अंततः नव सामाजिक आंदोलनों व उससे संबंधित विमर्श के बारे में भी विश्लेषण किया गया है।

4.9 बोध प्रश्न

बोध प्रश्न 1: चिल्का बचाओ आंदोलन के बारे में वर्णन कीजिए।

बोध प्रश्न 2: नारीवादी आंदोलनों का विवेचन प्रस्तुत कीजिए।

बोध प्रश्न 3: मानवाधिकार आंदोलनों पर प्रकाश डालिए।

बोध प्रश्न 4:नव सामाजिक आंदोलनों और उससे संबंधित विमर्श के बारे में उल्लेख कीजिए।

बोध प्रश्न 5: टिप्पणी कीजिए

1- अप्पिको आंदोलन 2- छात्र आंदोलन

4.10 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

शाह, घ. (2009). *भारत में सामाजिक आंदोलन.* जयपुर: रावत पब्लिकेशन

चक्रवर्ती, व. एवं पाण्डेय, र.क. (2012).*आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन.* नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशन इंडिया प्राइवेट लिमिटेड

सिंह, व.ए. एवंसिंहज. (2005). *भारत में सामाजिक आंदोलन.* जयपुर: रावत पब्लिकेशन

सरस्वती, स. स. (2012). *किसान आंदोलन की वैचारिक पृष्ठभूमि* दिल्ली: ग्रंथशिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड

परमार, श. (2015). *नारीवादी सिद्धांत और व्यवहार.* नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड

ज्ञान शांति मैत्री

खंड - 3

पारिवारिक संरचना

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई 1
परिवार एवं विवाह की अवधारणा
इकाई रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 परिवार: अर्थ एवं परिभाषाएँ
1.3 परिवार की विशेषताएँ
1.4 परिवार के प्रकार्य एवं महत्व
1.5 परिवार के प्रकार
1.6 विवाह: अर्थ एवं परिभाषाएँ
1.7 सारांश
1.8 बोध प्रश्न
1.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप –

- परिवार के अर्थ और विशेषताओं को रेखांकितकर पाएँगे।
- परिवार के प्रकार्य और प्रकारों को समझा पाएँगे।
- विवाह के अर्थ और प्रकारों को स्पष्ट कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

आदिकाल से ही मनुष्य को जानवरों और विपरीत परिस्थितियों से बचाव हेतु झुंड में रहने की आदत रही है और इस आदत ने उनके मध्य स्नेह, संघर्ष, वर्चस्व, प्रेम, काम आदि भावनाओं को जन्म दिया। कालांतर में उसने परिवार और विवाह जैसी संस्थाओं की आवश्यकता महसूस की। इस आधार पर उनके यौन संबंधोंऔर उससे उत्पन्न संतानों को सामाजिक वैधता मिलने लगी। इसके साथ ही अन्य सदस्यों का सहयोग भी प्राप्त होने लगा। इस इकाई में इन्हीं दो संस्थाओं के बारे में चर्चा की जा रही है।

1.2 परिवार : अर्थ एवं परिभाषाएँ

परिवार शब्द अंग्रेजी के *'फैमिली'* शब्द का हिंदी रूपांतरण है। *'फैमिली'* शब्द लैटिन भाषा के *'फैमुलस'* से बना हुआ है, जो एक समूह को संबोधित करता है, जिसमें माता-पिता, बच्चे, नौकर और दास शामिल होते हैं। परिवार, समाज की आधारभूत इकाई है और यह मानव के विकास के सभी स्तरों पर किसी-न-किसी रूप में अवश्य विद्यमान रही है, ऐसा अवश्य हो सकता है कि इसके स्वरूप व प्रकार भिन्न अवश्य रहे हों।

- **मैकाइवर एवं पेज** के अनुसार, *"परिवार पर्याप्त निश्चित यौन संबंध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चों के जनन एवं लालन-पालन की व्यवस्था करता है।"*
- **मुरडॉक** के शब्दों में, *"परिवार एक ऐसा सामाजिक समूह है , जिसके लक्षण सामान्य निवास, आर्थिक सहयोग और प्रजनन है। इसमें दो विपरीत लिंगों के बालिग सम्मिलित हैं, जिसमें कम से कम दो व्यक्तियों में यौन संबंध होता है और जिन बालिग व्यक्तियों में यौन संबंध होता है उनके अपने अथवा गोद लिए हुए एक या अधिक बच्चे हों।"*
- **बर्गेस एवं लॉक** के अनुसार, *"परिवार उन व्यक्तियों का समूह है जो विवाह, रक्त अथवा गोद लेने के बंधनों से संबद्ध हैं, एक गृहस्थी का निर्माण करते हैं और पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन अपने-अपने क्रमशः सामाजिक कार्य, अंत:क्रिया एवं अंत:संचार करते हैं तथा एक सामान्य संस्कृति की रचना करते हैं।"*
- **लूसी मेयर** के अनुसार, *"परिवार एक गृहस्थ समूह है जिसमें माता-पिता और संतान साथ रहते हैं। इसके मूल रूप में दंपत्ति और उनकी संतान रहती है।"*
- **डॉ. दुबे** के शब्दों में, *"परिवार में स्त्री और पुरुष दोनों को सदस्यता प्राप्त रहती है। उनमें से कम से कम दो विपरीत यौन व्यक्तियों को यौन संबंधों की सामाजिक स्वीकृति रहती है और उनके संसर्ग से उत्पन्न संतानें मिलकर परिवार का निर्माण करती हैं। इस प्रकार प्राथमिक अथवा मूल परिवार के लिए माता-पिता और उनकी संतान का होना अत्यंत आवश्यक है।"*
- **डबल्यू.एच.आर. रिवर्स** के अनुसार, *"परिवार शब्द से हमारा तात्पर्य एक छोटे-से सामाजिक समूह से होता है, जिसमें माता-पिता तथा बच्चे शामिल हों।"*

उक्त वर्णित सभी परिभाषाओं के आलोक में यह कहा जा सकता है कि परिवार एकऐसा सामाजिक समूह है, जिसमें माता-पिता और बच्चे शामिल होते हैं। साथ ही इसका उद्देश्य सदस्यों के लिए सामान्य निवास, यौन संतुष्टि और प्रजनन, आर्थिक सहयोग, समाजीकरण आदि सुविधाओं की व्यवस्था करना है।

1.3 परिवार की विशेषताएँ

मैकाइवर और पेज ने परिवार की सामान्य और विशिष्ट दो प्रकार की विशेषताओं का उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं–

1. **सामान्य विशेषताएँ**
   - i) **विवाह संबंध:-** विवाह के कारण ही परिवार का जन्म होता है। विवाह के उपरांत ही दो विपरीत लिंगियों के मध्य यौन संबंध स्थापित होते हैं और उनसे उत्पन्न संतानों को समाज द्वारा स्वीकृति प्राप्त होती है। इस प्रकार से परिवार अपने सदस्यों के बेहतर जीवन और उनके सहयोग के लिए प्रतिबद्ध रहता है।
   - ii) **विवाह का एक स्वरूप:-** विवाह संस्था के आधार पर समाज द्वारा यौन संबंधों को स्वीकृति प्रदान की जाती है। विभिन्न समाजों में, विभिन्न समय में विवाह के कई स्वरूप प्रचलित रहे हैं। हालांकि इन सभी में से एक विवाह को सबसे अधिक उपायुक्त माना गया है। इसमें एक समय में एक पुरुष और एक स्त्री का वैवाहिक संबंध स्थापित होता है।
   - iii) **सामान्य निवास:-** विवाह के स्वरूप के अनुरूप सामान्य निवास भी तय होता है। सामान्य तौर पर स्त्री विवाह के उपरांत पति के निवास स्थान पर रहने को जाती है, इसे पितृस्थानीय परिवार की संज्ञा दी जाती है। अन्य स्वरूपों की चर्चा इसी इकाई में आगे की जाएगी।
   - iv) **आर्थिक व्यवस्था:-** परिवार की आवश्यकताओं और उनके भरणपोषण हेतु अर्थव्यवस्था होती है, जो प्रायः सभी परिवारों में देखने को मिलती है।
   - v) **वंशनाम की एक व्यवस्था:-** सभी परिवारों में बच्चों के लिए एक वंशनाम की परंपरा देखने को मिलती है। पितृवंशीय परिवारों में यह नामकरण पिता के वंश से और मातृवंशीय परिवारों में यह माता के वंश की ओर से चलता है।
2. **विशिष्ट विशेषताएँ**
   - i) **सार्वभौमिकता:-** जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि परिवार प्रत्येक समाजों में पाया जाता रहा है, भले ही उसका स्वरूप भिन्न रहा हो। प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी परिवार का सदस्य अवश्य रहा है अर्थात परिवार की उपस्थिति सार्वभौमिक है।
   - ii) **भावात्मक आधार:-** परिवार के सभी सदस्य भावनात्मक तौर पर एक-दूसरे से अंतर्संबंधित होते हैं। परिवार में प्रेम, सहयोग, दया, सहिष्णुता, त्याग, बलिदान आदि भावनाएँ विद्यमान रहती हैं और ये भावनाएँ परिवार को सुदृढ़ता प्रदान करने में कारगर सिद्ध होती है।

iii) **सदस्यों का उत्तरदायित्व:-** जिस प्रकार प्रत्येक परिवार की अपने सदस्यों के प्रति जवाबदेही होती है, ठीक उसी प्रकार परिवार की सदस्यों से कुछ अपेक्षाएँ भी रहती हैं। भावनात्मक जुड़ाव रहने के कारण सामान्य तौर पर सदस्य अपने परिवार के लिए कुछ भी करने को तैयार रहता है। हम देखते हैं कि माता-पिता स्वयं कष्ट सहन कर अपनी संतान की खुशी के लिए सदैव तत्पर रहते हैं।

iv) **रचनात्मक प्रभाव:-** कुले ने परिवार को प्राथमिक समूह माना है। जन्म लेने के बाद मनुष्य सबसे पहले परिवार के संपर्क में आता है। परिवार की छाप उसके सदस्यों पर स्पष्ट तौर पर दिखाई पड़ती है। कुछ विद्वानों द्वारा परिवार को शिशु की प्राथमिक पाठशाला की संज्ञा प्रदान की गई है।

v) **सीमित आकार:-** अन्य बृहत समूहों की अपेक्षा इसका आकार सीमित होता है। इसके पीछे प्राणीशास्त्रीय तर्क है कि मनुष्य की कुछ समय के पश्चात मृत्यु हो जाती है। इसके कारण परिवार का आकार सीमित रह जाता है।

vi) **सामाजिक नियंत्रण:-** समाज में अनेक नियम, प्रथाएँ और रूढ़ियाँ विद्यमान हैं जो परिवार को नियंत्रित करने का काम करती है। किसी मनुष्य द्वारा विवाह अथवा परिवार का निर्माण अनायास ही नहीं किया जा सकता है, इसके लिए उसे कुछ सामाजिक नियमों का पालन करना पड़ता है।

vii) **सामाजिक संरचना में केंद्रीय स्थिति:-** समाज के निर्माण हेतु परिवार की भूमिका अद्वितीय रही है। सामाजिक संरचना में परिवार की केंद्रीय स्थिति होती है।

viii) **परिवार की स्थायी और अस्थायी प्रकृति:-** संस्था के रूप में परिवार की प्रकृति स्थायी है, जबकि समिति के रूप में परिवार की प्रकृति अस्थायी भी है। सदस्य की मृत्यु, तलाक आदि के आधार पर वह परिवार से अपने संबंधों को तोड़ सकता है, लेकिन संस्था के रूप में परिवार आदि काल से विद्यमान है।

1.4 परिवार के प्रकार्य एवं महत्व

परिवार, समाज की प्राथमिक इकाई है और सदस्यों के नैतिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यहाँ परिवार के प्रकार्य और महत्व का उल्लेख किया जा रहा है–

क) प्राणीशास्त्रीय कार्य

1. **यौन इच्छाओं की पूर्ति-** परिवार एक ऐसी संस्था है , जिसके आधार पर समाज द्वारा यौन संतुष्टि को स्वीकृति प्रदान की जाती है। किसी भी समाज द्वारा यौन इच्छाओं को स्वीकृति बिना परिवार और विवाह के नहीं दी जा सकती, क्योंकि उत्पन्न संतानों का संबंध नातेदार, वंशनाम, उत्तराधिकार आदि से जुड़ा रहता है।

2. **संतानोत्पत्ति:-** मानव समाज की सातत्य बनाए रखने के लिए संतान उत्पन्न करना एक आवश्यक कदम है। इसके इतर, समाज में व्यवस्था बनाए रखने और संतानों की वैधानिकता के रूप में विवाह उल्लेखनीय संस्था है।
3. **प्रजाति की निरंतरता:-** मानव समाज की निरंतरता को बनाए रखने में भी परिवार संस्था की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। नई पीढ़ी को जन्मदेकर मानव की स्थिरता और निरंतरता को बनाए रखना इसके प्राणीशास्त्रीय प्रकार्य हैं।

ख) शारीरिक कार्य

1. **शारीरिक रक्षा:**परिवार अपने सदस्यों की शारीरिक रक्षा के लिए प्रतिबद्ध होता है। वृद्धावस्था, बीमारी, दुर्घटना, अपाहिज होने आदि में देख-रेख और सेवा की ज़िम्मेदारी परिवार की ही होती है।
2. **संतान का पालन-पोषण:-** संतान का लालन-पालन परिवार द्वारा बखूबी किया जाता है। वर्तमान समय में कई संगठनों द्वारा भी संतान का पालन-पोषण किया जाने लगा है , परंतु परिवार द्वारा जिस भावनात्मक पर्यावरण की संस्तुति होती है, वह संतान के नैतिक विकास की दृष्टि से आवश्यक है।
3. **निवास एवं भोजन आदि की व्यवस्था:-** परिवार अपने सदस्यों के लिए निवास, भोजन और वस्त्र आदि की व्यवस्था करता है। प्रारंभिक समय से ही परिवार द्वारा सदस्यों के लिए भोजन की व्यवस्था की जाती रही है। विभिन्न मौसमों और पर्यावरण की परिस्थिति के अनुरूप परिवार द्वारा अपने सदस्यों के लिए निवास और वस्त्र आदि की व्यवस्था की जाती है।

ग) आर्थिक कार्य

1. **उत्तराधिकार:-** प्रत्येक समाजों में परिवार द्वारा संपत्ति को उत्तराधिकार के रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित करना पड़ता है।मातृसत्तात्मक परिवारों में यह हस्तांतरण माता से पुत्री अथवा मामा से भांजे को होता है, जबकि पितृसत्तात्मक परिवारों में पिता से पुत्र को होता है।
2. **उत्पादक इकाई:-** प्रारंभिक समय में परिवार द्वारा काफ़ी मात्रा में उत्पादन कार्य किए जाते थे। शिकार, पशुपालन, कृषि आदि का कार्य परिवार द्वारा एकजुट होकर किया जाता था। इसके अलावा उद्योगों में भी परिवार द्वारा कार्य किया जाता था। परिवार एक सहयोगी तथा संयुक्त उत्पादक इकाई के रूप में भी कार्य करती है।

3. **श्रम विभाजन:-** हम परिवार में श्रम विभाजन के सरल स्वरूप को देख सकते हैं। यह श्रम विभाजन लिंग और आयु के आधार पर होता है। स्त्रियों से घरेलू कार्य, पुरुषों से बाहरी कार्य और बच्चों से छोटे-मोटे कार्य के रूप में सहयोग प्राप्त किया जाता है।
4. **आय तथा संपत्ति आदि का प्रबंधन:** परिवार के आय-व्यय का ब्यौरा मुखिया द्वारा किया जाता है। इसके अलावा मुखिया ही यह भी तय करेगा कि किस कार्य में और कितना व्यय करना है?

घ) राजनीतिक कार्य

आदिम तथा सरल समाजों में परिवारों के मुखिया ही यह तय करते हैं कि किसी प्रशासनिक कार्य को लागू किया जाना चाहिए और किस प्रकार से किया जाना चाहिए? पारिवारिक कलहों का निपटारा भी परिवार के मुखिया के द्वारा ही तय किया जाता है साथ ही वह अन्य परिवारों के मामलों में भी हस्तक्षेप करता है।

ङ) धार्मिक कार्य

प्रत्येक परिवार अवश्य ही किसी-न-किसी धर्म, पंथ, संप्रदाय आदि से संबंधित होता है। सदस्यों को त्यौहारों, व्रत, धार्मिक प्रथाओं-परंपराओं आदि के बारे में जानकारी परिवार द्वारा ही उपलब्ध कराई जाती है। पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, स्वर्ग-नरक आदि प्रकार की धारणाओं के बारे में सदस्यों को परिवार द्वारा ही अवगत कराया जाता है।

च) सांस्कृतिक कार्य

परिवार द्वारा संस्कृति की रक्षा और संवर्धन किया जाता है। संस्कृति के हस्तांतरण और विस्तार में परिवार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

छ) मनोवैज्ञानिक कार्य

परिवार एक ऐसे वातावरण को निर्मित करता है जो मनोवैज्ञानिक तौर पर सदस्यों की सुरक्षा करता है। सभी सदस्यों में प्रेम, दया, सहानुभूति, सौहार्द आदि की भावना का सृजन परिवार के द्वारा ही किया जाता है।

ज) समाजीकरण का कार्य

परिवार संतान के समाजीकरण की प्राथमिक इकाई होती है। परिवार द्वारा उसे नैतिकता, संस्कृति, कर्म-धर्म आदि के बारे में शिक्षा प्रदान की जाती है। परिवार द्वारा ज्ञान का संवर्धन, संरक्षण आदि किया जाता है।

झ) शैक्षिक कार्य

परिवार द्वारा संतान के व्यक्तित्व को निखारा जाता है। परिवार द्वारा ही संतान में चारित्रिक निर्माण, कर्तव्यपरायणता, आदर भाव आदि का विकास हो पाता है।

ञ) मनोरंजन का कार्य

परिवार में मनाए जाने वाले त्यौहार, पर्व, उत्सव आदि सदस्यों के लिए मनोरंजक होते हैं। इसके अलावा दांपत्य प्रेम, संतानों की किलकारियाँ आदि मनोरंजन के केंद्र होते हैं।

ट) सामाजिक नियंत्रण

परिवार का अपने सदस्यों के ऊपर नियंत्रण रहता है। सभी सदस्यों को मुखिया के अनुरूप ही कार्य करने पड़ते हैं। परिवार का वातावरण ही इस प्रकार से नियत रहता है कि सदस्य अपने कर्तव्यों और दायित्वों का पालन करते हैं।

1.5 परिवार के प्रकार

विभिन्न समाजों और विभिन्न कालखंडों में परिवार के कई स्वरूप देखने को मिलते हैं। यहाँ कुछ प्रमुख प्रकारों को संक्षेप में प्रस्तुत कियाजा रहा है–

1) संख्या के आधार पर

नाभिक अथवा केंद्रीय परिवार- यह परिवार का सबसे छोटा रूप होता है, जिसमें एक पुरुष, स्त्री और उनकी संताने रहते हैं।
संयुक्त परिवार- इसमें तीन अथवा तीन से अधिक पीढ़ियों के सदस्य एक साथ एक ही घर में निवास करते हैं, उनकी संपत्ति सामूहिक होती है भोजन हेतु एक ही रसोई घर होता है, सामूहिक पूजा में भाग लेते हैं और परस्पर किसी-न-किसी नातेदारी व्यवस्था से जुड़े होते हैं।
विस्तृत परिवार- इस प्रकार के परिवार में सभी रक्त संबंधी और अन्य संबंधी भी शामिल होते हैं। ये एक पक्षीय अथवा द्वि-पक्षीय हो सकते हैं। ऐसे परिवारों में सदस्यों की संख्या बहुत अधिक होती है।

2) निवास स्थान के आधार पर

पितृस्थानीय परिवार- इस प्रकार के परिवार में विवाह के उपरांत पत्नी, पति के निवास स्थान पर रहने लगती है। हिंदू, मुसलमान, भील, खरिया आदि पितृवंशीय परिवारों में यह प्रकार पाया जाता है।
मातृस्थानीय परिवार- इस प्रकार के परिवार में विवाह के उपरांत पति, पत्नी के निवास स्थान पर रहने लगता है। मालाबार के नायर, ख़ासी, गारो आदि जनजातियों में यह प्रकार पाया जाता है।
नवस्थानीय परिवार- इस प्रकार के परिवार में विवाह के उपरांत पति-पत्नी एक अलग निवास

स्थान पर जाकर रहने लगते हैं।
मातृ-पितृस्थानीय परिवार- इस प्रकार के परिवार में विवाह के उपरांत पति-पत्नी दोनों में से किसी एक पक्ष के पास जाकर रहने के लिए स्वतंत्र होते हैं।
मामा स्थानीय परिवार- इस प्रकार के परिवार में विवाह के उपरांत पति-पत्नी दोनों माँ के भाई अर्थात मामा के यहाँ जाकर रहने लगते हैं। यह प्रथा ट्रोबियाण्डा द्वीप पर प्रचलित है।
द्वि-स्थानीय परिवार- इस प्रकार के परिवार में विवाह के उपरांत पति-पत्नी दोनों अपने-अपने जन्म के परिवारों में ही रहते हैं। लक्षद्वीप, केरल और अशांति जनजाति में परिवार का यह प्रकार पाया जाता है।

3) अधिकार के आधार पर

पितृ-सत्तात्मक परिवार- ऐसे परिवारों में सत्ता और अधिकार पुरुष के हाथ में होते हैं और सत्ता का हस्तांतरण पिता से पुत्र की ओर होता है। हिंदू समाज़ खरिया, भील आदि समाजों में यह परिवार प्रचलन में हैं।
मातृ-सत्तात्मक परिवार- ऐसे परिवारों में सत्ता और अधिकार स्त्री के हाथ में होते हैं और सत्ता का हस्तांतरण माता से पुत्री की ओर होता है। भारत में ख़ासी और गारो जनजाति में यह परिवार प्रचलन में है।

ज्ञान शांति मैत्री

4) उत्तराधिकार के आधार पर

पितृ-मार्गी परिवार- इन परिवारों में उत्तराधिकार के नियम पितृपक्ष द्वारा तय किए जाते हैं।
मातृ-मार्गी परिवार- इन परिवारों में उत्तराधिकार के नियम मातृपक्ष द्वारा तय किए जाते हैं।

5) वंशनाम के आधार पर

पितृ-वंशीय परिवार- इन परिवारों में वंश परंपरा पिता के नाम से चलती है। पिता का वंशनाम पुत्रों को प्राप्त होता है। हिंदुओं में यह परिवार पाया जातहै।

मातृ-वंशीय परिवार- इन परिवारों में वंश परंपरा माता के नाम से चलती है। माता का वंशनाम पौत्रियों को प्राप्त होता है। मालबार के नायरों में यह परिवार पाया जाता है।
उभयवाही परिवार- इन परिवारों में वंश परिचय वंशानुगत संबंधों पर आश्रित न होकर सभी निकट के संबंधियों पर समान रूप से आधारित होता है। इन समाजों में मात्रिक और पैतृक दोनों वंश परंपराएँ समान रूप से संचालित रहती हैं।
द्विनामी परिवार- इन परिवारों में एक व्यक्ति एक ही समय में अपने दादा और नानी दोनों से संबंद्ध रहता है। अन्य दो संबंधी दादी और नाना को छोड़ दिया जाता है।

6) विवाह के आधार पर

एक विवाही परिवार- इन परिवारों में पति-पत्नी (एक पुरुष और एक स्त्री) और उनके अविवाहित बच्चे शामिल रहते हैं।
बहु विवाही परिवार- इन परिवारों में एक समय में एक से अधिक यौन संबंधों की अनुमति होती है। ये तीन प्रकार के होते हैं–
बहुपत्नीक विवाही परिवार- इन परिवारों में एक पुरुष का वैवाहिक संबंध एक से अधिक स्त्रियों के साथ रहता है। भारत में नागा, बैगा, गोंड जनजातियों में परिवार का यह स्वरूप पाया जाता है।
बहुपति विवाही परिवार- इन परिवारों में एक स्त्री का वैवाहिक संबंध एक से अधिक पुरुषों के साथ रहता है। यह दो प्रकार का होता है–
भातृ बहुपतिक विवाही परिवार- इन परिवारों में सभी भाई पुरुषों का विवाह एक स्त्री से कर दिया जाता है।
अभातृ बहुपतिक विवाही परिवार- इन परिवारों में कई पुरुषों (वे भाई न होकर एक-दूसरे के नातेदार हो सकते हैं) का विवाह एक स्त्री से कर दिया जाता है।

ज्ञान शांति मैत्री

समूह विवाही परिवार- इन परिवारों में एक पुरुष समूह का वैवाहिक संबंध एक स्त्री समूह के साथ रहता है। इस प्रकार के परिवार में सभी पुरुष समान रूप से पति और सभी स्त्रियाँ समान रूप से पत्नी होती हैं।

7) अन्य आधार पर

जन्म मूलक परिवार- इस प्रकार के परिवार में व्यक्ति जन्म लेता है और उसका लालन-पालन वहीं होता है। ऐसे परिवार में व्यक्ति के माता-पिता और अविवाहित भाई-बहन शामिल रहते हैं।
प्रजनन मूलक परिवार- इस प्रकार के परिवार का निर्माण विवाह के उपरांत होता है। ऐसे परिवार में पुरुष, उसकी पत्नी और अविवाहित बच्चे सम्मिलित हैं।
समरक्त परिवार- इस प्रकार के परिवार में सभी सदस्य रक्त से संबंधित रहते हैं।
विवाह संबंधी परिवार- इस प्रकार के परिवार में विवाह संबंधी और रक्त संबंधी दोनों सदस्य रहते हैं, परंतु अधिक महत्व रक्त संबंधों को ही दियाजाता है।
प्रेत परिवार- विवाह के पूर्व ही किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर, किसी पुरुष की संतान केवल लड़कियां होने पर, पुत्र के बड़े होने के पूर्व ही मर जाने पर इस विवाह को संपन्न किया जाता है। इसमें किसी मृत पुरुष से स्त्री का विवाह (अभिनयात्मक रूप से) संपन्न करा दिया जाता है और वह स्त्री उस मृत की पत्नी कही जाती है। साथ ही उत्पन्न संतान को भी मृत पुरुष की संतान माना जाता है। इस प्रकार के परिवार का प्रचलन अफ्रीका की न्यूर जनजाति में देखने को मिलता है।

1.6 विवाह: अर्थ एवं परिभाषाएँ

मनुष्य के अलावा अन्य प्राणी भी यौन इच्छाएँ रखते हैं, लेकिन उनमें इसका आधार केवल शारीरिक तौर पर ही है। इसके इतर मनुष्य में यौन इच्छाएँ केवल शारीरिक संतुष्टि न रहकर सामाजिकसांस्कृतिक आधार से भी अंतर्संबंधित हैं। इन यौन इच्छाओं के नियंत्रण और सामाजिक वैधता की दृष्टि से विवाह की आवश्यकता पड़ी।

- **बोगार्डस** के शब्दों में, *"विवाह स्त्री और पुरुष के पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की एक संस्था है।"*

- **डबल्यू.आर.रिवर्स** के अनुसार, *"जिन साधनों द्वारा मानव-समाज यौन संबंधों का नियमन करता है, उन्हें विवाह की संज्ञा दी जा सकती है।"*
- **लूसी मेयर** के शब्दों में, *"विवाह स्त्री-पुरुष का एक ऐसा संघ है, जिसमें स्त्री से उत्पन्न बच्चा पति-पत्नी दोनों की वैध संतान माना जाता है।"*
- **वेस्टरमार्क** के अनुसार, *"विवाह एक अथवा अधिक पुरुषों का एक अथवा अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला संबंध है जिसे प्रथा या कानून स्वीकार करता है और, जिसमें विवाह करने वाले व्यक्तियों के और उससे पैदा हुए संभावित बच्चों के एक-दूसरे के प्रति होने वाले अधिकारों एवं कर्तव्यों का समावेश होता है।"*

उक्त वर्णित सभी परिभाषाओं के आलोक में यह कहा जा सकता है कि विवाह दो विषम लिंगियों को पारिवारिक जीवन में प्रवेश कराने की संस्था है। इस संस्था में प्रवेश के पश्चात उनसे उत्पन्न संतान को सामाजिक वैधता प्राप्त हो जाती है।

1.7 सारांश

परिवार और विवाह दोनों ही संस्थाएं मनुष्य के नैतिक और सामाजिकसांस्कृतिक विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण होती हैं। मनुष्य अपनी यौन इच्छाओं को वैधानिकस्वरूप प्रदान करने के लिहाज से विवाह संस्कार करता है और परिवार संस्था में प्रवेश का आधार विवाह है। इस प्रकार से मानव सदैव किसी न किसी परिवार का अंग रहता है। इस इकाई के माध्यम से परिवार और विवाह के बारे में अवगत कराने का प्रयास किया गया है।

ज्ञान शांति मैत्री

1.8 बोध प्रश्न

1:- परिवार क्या है? विस्तार से समझाएँ।
2:- परिवार की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
3:- परिवार के प्रकारों को बताइए।
4:- विवाह पर टिप्पणी लिखिए।

1.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

बोगार्डस, ई.एस. (1938). *सोशियोलाजी*. न्यूयॉर्क: मैकमिलन।
मुर्डाक, जी.पी. (1949). *सोशल स्ट्रक्चर*. न्यूयॉर्क: मैकमिलन।
एलिज़ाबेथ, ए. (2011). *अ हिस्ट्री ऑफ मैरिज*. न्यूयॉर्क: सेवेन स्टोरीज़ प्रेस।

पैट्रिसिया, यू. (1997). *फैमिली, किनशिप एंड मैरिज इन इंडिया* नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस इंडिया।

कपाड़िया, के.एम. (1966). *मैरिज एंड फैमिली इन इंडिया.* ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

वेस्टरमार्क, ई. (1891). द *हिस्ट्री ऑफ ह्यूमन मैरिज.* न्यूयॉर्क: मैकमिलन।

रिवर्स, डबल्यू.एच.आर. (1968). *किनशिप एंड सोशल ऑर्गनाइज़ेशन.* लंदन: ब्लूम्सबरी एकेडमिक।

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई 2
परिवार एवं विवाह के बदलते प्रतिमान
इकाई रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 परिवार में आधुनिक परिवर्तन
2.3 परिवार में परिवर्तन के कारक
2.4 विवाह में आधुनिक परिवर्तन
2.5 विवाह में परिवर्तन के कारक
2.6 सारांश
2.7 बोध प्रश्न
2.8 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप –

- परिवार में होने वाले आधुनिक परिवर्तनों को रेखांकित कर सकेंगे।
- विवाह के आधुनिक परिवर्तन को स्पष्ट कर सकेंगे।
- परिवार और विवाह में परिवर्तन के कारकों को विश्लेषित कर सकेंगे।

ज्ञान शांति मैत्री

2.1 प्रस्तावना

औद्योगीकरण, नगरीकरण, आधुनिकीकरण, उदारीकरण आदि प्रक्रियाओं ने समाज को परिवर्तित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। इन परिवर्तनों में परिवार और विवाह भी शामिल हैं। एक ओर जहां पारिवारिक संरचना, परिवारक संगठन, पारिवारिक गतिविधियों और पारिवारिक स्वरूपों में परिवर्तन हुए, तो दूसरी ओर वैवाहिक संरचना, स्वरूप आदि में भी कई परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों और उनके पीछे सक्रिय कारकों के बारे में चर्चा इस इकाई में प्रस्तुत की गई है।

2.2 परिवार में आधुनिक परिवर्तन

आधुनिक दौर में परिवर्तन बहुत तेज़ी से क्रियाशील हो रहे हैं। परिवार में होने वाले आधुनिक परिवर्तनों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है–

1. परिवार के आकार में परिवर्तन

आज के समय में परिवार का आकार घटता चला जा रहा है अर्थात पारिवारिक सदस्यों की संख्या सीमित होती जा रही है। लोगों का झुकाव सीमित परिवारों की ओर बढ़ता जा रहा है। परिवार नियोजन और सदस्यों की रुचियों ने परिवार की संख्या को सीमित कर दिया है। वर्तमान समय में संयुक्त तथा विस्तृत परिवारों के स्थान पर नाभिक परिवार ही अधिक मात्रा में देखने को मिलते हैं। इस प्रकार के विकसित हो रहे आधुनिक परिवारों में पति-पत्नी और उनकी अविवाहित संताने ही सम्मिलित रहते हैं।

2. पारिवारिक कार्यों की अपरिहार्यता में परिवर्तन

प्राचीन समय में परिवार सुरक्षा, सहयोग और शिक्षा के केंद्र हुआ करते थे , परंतु आज कई संस्थाओं के निर्माण हो जाने के कारण परिवार अपनी दृढ़ता और स्वरूप को कायम रख पाने में असफल हुआ है। संयुक्त परिवारों के विघटन का एक कारण ये नवीन संस्थाएं भी हैं। शिशु गृह, बैंक तथा अन्य संस्थाओं के कारण परिवार के प्रकार्यों में परिवर्तन आए हैं।

3. पति-पत्नी के संबंधों में परिवर्तन

पहले के समय में पति में चाहे कितनी भी बुराईयाँ हो, चाहे वह अत्याचारी व्यभिचारी ही क्यूँ न हो, उसे पत्नी द्वारा परमेश्वर का दर्जा दिया जाता था। पत्नी उसका आदर-सत्कार करती थी, उसकी उचित-अनुचित सभी प्रकार की इच्छाओं का पालन करती थी पत्नी को पति के भोजन करने के पश्चात ही भोजन करना होता था, परंतु वर्तमान समय में ऐसा नहीं है। वर्तमान शिक्षा और सामाजिक चेतना ने स्त्रियों को इतना जागरूक बनाया है कि वे अपने अधिकारों के प्रति सचेत रहना और उन्हीं के अनुरूप व्यवहारों को महत्व देने में सक्षम हो गई हैं। अब वह पति की दासी नहीं, अपितु साथी के रूप में जीवन बसर करती हैं।

4. वैवाहिक और यौन संबंधों में परिवर्तन

वर्तमान संदर्भ में विवाह और यौन संबंधों में भी काफ़ी परिवर्तन देखने को मिलते हैं। बाल विवाह लगभग पूरी तरह से समाप्त हो चुके हैं और जीवन की व्यस्तता के कारण विवाह में भी विलंब होने लगे हैं। साथ ही जीवन साथी के चयन में भी पहले की तुलना में काफ़ी स्वतंत्रता दी जाने लगी है। परिवार द्वारा तय किए जाने वाले व्यवस्थित विवाह की अपेक्षा प्रेम विवाह, कोर्ट मैरिज, अंतर्जातीय विवाह की संख्या में दिन-प्रतिदिन इजाफा होता जा रहा है। विधवा स्त्रियों के प्रति भी अब परिवार में सहानुभूति का वातावरण तैयार किया जाने लगा है।

5. पिता के अधिकारों में कमी और अन्य सदस्यों का बढ़ता महत्व

पहले के समय में परिवार में पिता की भूमिका एक मुखिया की हुआ करती थी। वह ही आय-व्यय का लेखा-जोखा रखते थे, सभी निर्णय लेने का अधिकार उन्हें ही रहता था, पूरे परिवार पर उनकी सत्ता रहती थी, परंतु अब परिवार के सभी निर्णयों में पिता के अलावा अन्य

पारिवारिक सदस्यों की भूमिका भी महत्वपूर्ण रहती है। अब कुछ निर्णयों में पत्नी और बच्चों की भागीदारी को भी महत्व दिया जा रहा है। अब बच्चों को सुधारने या समझने के लिए पहले की तरह मार-पीट का सहारा नहीं लिया जाता है, बल्कि इसके स्थान पर उन्हें समझाकर सही रास्ते पर लाने का प्रयत्न किया जाता है।

6. सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से स्त्रियों की स्थिति में सुधार

वर्तमान समय में स्त्रियों को पहले की तरह चाहरदीवारी में कैद करके नहीं रखा जाता है। अब इन्हें नौकरी करने, व्यवसाय करने, व्यापार करने आदि की स्वतंत्रता प्राप्त है। अब वे पुरुषों के लिए भार स्वरूप नहीं रही, अब वे अपना भरण-पोषण कर सकती हैं। स्त्रियों की आर्थिक दशा में सुधार होने के कारण परिवार में उनकी सामाजिक दशा में सुधार अवश्य हुआ है और अब उनको पारिवारिक मसलों में महत्व दिया जाने लगा है। आज वे सामाजिक जीवन से जुड़ी प्रायः सभी गतिविधियों में भाग लेती हैं। हालांकि इन परिवर्तनों ने परिवार में कुछ संघर्ष की दशाओं को भी जन्मदिया है।

7. नातेदारी का घटता महत्व

वर्तमान समय में लोगों के पास समय की अत्यंत कमी है , जिसके कारण लोग अपने नातेदारों, रिश्तेदारों से दूर होते चले जा रहे हैं। आज लोगों के संबंधों में घनिष्ठता की कमी होती चली जा रही है। इन आधुनिक परिवर्तनों से नातेदारों का महत्व दिन-प्रतिदिन घटता ही जा रहा है।

8. परिवार में अस्थायित्व व्याप्त होना

वर्तमान समय में परिवार अपने स्थायित्व को बनाए रख पाने में असमर्थ होता जा रहा है। पति-पत्नी द्वारा अपने कर्तव्यों के जगह पर अपने अधिकारों को प्राथमिकता दी जाने लगी है। सभी अपनी आवश्यकताओं को किसी भी कीमत पर पूरा करने के प्रयास में मशगूल हैं। इन कारणों से परिवार में तनाव की स्थिति पैदा होने लगी है और इसके परिणामस्वरूप पति-पत्नी में तलाक की घटनाएँ सामने आने लगी हैं। यदि अपने चारों ओर के नगरीय परिवेश को ध्यानपूर्वक देखा जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि इन क्षेत्रों में तलाक की घटनाएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही चली जा रही हैं। यह परिवार के स्थायित्व के लिए उचित नहीं है।

9. परिवार के सहयोगी आधार में परिवर्तन

वर्तमान समय में व्यक्तिवादिता का भाव बढ़ता ही जा रहा है। व्यक्ति अपने स्वार्थों की पूर्ति में लगा हुआ है। आज उसके लिए माता-पिता, भाई-बहन और अन्य सदस्यों के स्थान पर अपने हित अधिक महत्वपूर्ण हो गए हैं। इस कारण से पारिवारिक संगठन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अब पारिवारिक सदस्यों में पहले के समान सहयोग, त्याग, प्रेम आदि की भावना का लोप होने लगा है। आज परिवार की नियंत्रण शक्ति अत्यंत कमज़ोर हो रही है।

2.3 परिवार में परिवर्तन के कारक

परिवार व्यवस्था में आज जो भी परिवर्तन क्रियान्वित हो रहे हैं उनके पीछे कुछ कारक छिपे हुए हैं। उनमें से प्रमुख कारक निम्नलिखित हैं–

1. औद्योगीकरण

औद्योगीकरण ने सामाजिक संरचना को परिवर्तित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। औद्योगीकरण ने मशीनों के युग का आरंभ कर दिया और इसने संपूर्ण अर्थव्यवस्था के ढांचे को ही परिवर्तित कर दिया। इन नई आर्थिक व्यवस्था ने प्रत्यक्ष तौर पर परिवार के आकार और प्रकार्य को प्रभावित किया। ग्रामीण समाजों में रोज़गार के अवसर कम होते हैं और इसी कारण लोग रोज़गार की तलाश में पलायन करते हैं। यहाँ आय व्यक्तिगत होने के कारण संयुक्त परिवारों का विघटन होने लगा और वे नाभिकीय परिवारों में परिवर्तित होने लगे। इन परिवारों में पति-पत्नी और उनकी अविवाहित संताने शामिल होते हैं।

2. नगरीकरण

नगरीयसमाजों में अनेक सुविधाएँ और साधन उपलब्ध होने के कारण ग्रामीण समाजों से पलायन होने से भी परिवारों में विघटन होने लगे। यहाँ विभिन्न विचारधारा, विश्वास, मत, धर्म आदि से संबंधित लोग निवास करते हैं। यहाँ विविधता के साथ-साथ नवीनता को भी अधिक महत्व दिया जाता है। स्पर्धापूर्ण वातावरण के कारण भी परिवार विघटित होते हैं।

3. कानूनों का प्रभाव

समय-समय पर सरकार ने कई कानूनों का नियोजन किया है। इन कानूनों ने महिलाओं की स्थिति में कई नूतन परिवर्तन किए हैं। तलाक के अधिकार, शिक्षा के अधिकार, नौकरी की स्वतंत्रता आदि ने महिलाओं की स्थिति को तो सुदृढ़ अवश्य ही किया है परंतु दूसरी ओर एक पारिवारिक संघर्ष की स्थिति का भी सृजन किया है।

4. पाश्चात्य जीवन दर्शन और शिक्षा व्यवस्था

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था अंग्रेज़ों द्वारा प्रदत्त है। इसके प्रभाव स्वरूप हमारी जीवन शैली पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित दिखाई देती है। पश्चिमी दर्शन, भौतिकवाद, उदारवाद आदि दर्शनों की छाप हमारे विचारों में स्पष्ट तौर पर परिलक्षित होती है। महिलाएं आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करने लगी हैं, इस कारण से भी पारिवारिक संरचनाएँ कमज़ोर होने लगी हैं। हालांकि इस पर शोध हो रहे है।

2.4 विवाह में आधुनिक परिवर्तन

जिस प्रकार से आधुनिक समाज ने परिवार को परिवर्तित किया है, उसी प्रकार से विवाह में भी कई नवीन परिवर्तन देखने को मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं–

1. विवाह संबंधी निषेधों औरकर्मकांडों में परिवर्तन

अतीत में विवाह करने से पूर्व कई निषेधों का पालन किया जाता था और साथ ही विवाह के दौरान भी कई कर्मकांडों को संपन्न किया जाता था। गोत्र, जाति, प्रवर आदि के अपने-अपने निषेध होते थे। वैवाहिक कर्मकांड दो से तीन दिन तक लगातार विधि-विधान के साथ चलते रहते थे, परंतु वर्तमान में गोत्र, जाति, प्रवर आदि से संबंधित निषेध अपेक्षाकृत शिथिल हुए हैं और साथ ही वैवाहिक कर्मकांडों का प्रयोग नाम-मात्र ही किया जाता है।

2. एक विवाह का प्रचलन

सरकार द्वारा पारित किए गए हिंदू विवाह अधिनियम् 1955 के तहत बहुपति और बहुपत्नी विवाह पर रोक लगा दिया गया है और एक विवाह को ही स्वीकार किया गया है। किसी विवाहित द्वारा पत्नी अथवा पति के जीवित रहते हुए या बिना तलाक लिए दूसरा विवाह करना असंवैधानिक है।

3. विवाह-विच्छेद

सरकार द्वारा लागू किए गए कानूनों और प्रावधानों ने महिलाओं को स्वतंत्रता प्रदान की है। आज उन्हें शिक्षा के अधिकार प्राप्त हैं, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है, निर्णय लेने का अधिकार प्राप्त है। महिलाओं के सक्षम और जागरूक होने के कारण वे अपने हित तथा अहित को समझने में सफल हो गई हैं और हिंदू विवाह अधिनियम में दिए गए अधिकार के अनुसार उन्हें तलाक लेने का अधिकार भी प्राप्त है।

4. बाल विवाह पर रोक

अतीत में बाल विवाह का प्रचलन काफी मात्रा में था, परंतु वर्तमान समय में वैवाहिक प्रावधानों के अनुसार विवाह की आयु वर की 21 वर्ष और वधू की 18 वर्ष निर्धारित कर दी गई है। यदि इसके पूर्व विवाह विवाह किए गए तो इसके लिए दंडात्मक कार्रवाई का प्रावधान भी है। वर्तमान समय में बाल विवाह लगभग पूरी तरह समाप्त हो चुके हैं।

5. विधवा विवाह को मान्यता

पहले के समय में विधवा को पुनर्विवाह करने के अधिकार प्राप्त नहीं था तथा विभिन्न शुभ अवसरों पर उनका निषेध किया जाता था, परंतु अब परिस्थिति बदल चुकी है। कानूनों द्वारा विधवा पुनर्विवाह को मान्यता दे दी गई है, साथ ही उनके संपत्ति पर अधिकार को भी सुनिश्चित

किया गया है। विधवा पुनर्विवाह को मान्यता प्रदान कर उनके साथ सामाजिक व मानवीय व्यवहार किया गया है।

6. दहेज पर रोक

पहले के समय में दहेज इच्छानुसार दिया जाता था , परंतु धीरे-धीरे यह दृढ़ बाध्यता बनता चला गया। इसने एक सामाजिक बुराई का रूप धारण कर लिया। हालांकि कानूनी तौर पर दहेज पर निषेध लगाया जा चुका है, परंतु व्यावहारिक तौर पर इसका क्रियान्वयन अभी भी प्रयलन में है। अनुमान लगाया गया था कि शिक्षा के प्रसार से दहेज की मांग में कमी आएगी , परंतु शिक्षा ने इसे और भी तूल दे दिया है। अब शिक्षा और नौकरी के आधार पर दहेज की मांग की जाने लगी है। अंतर्जातीय विवाह और प्रेम विवाह के प्रचलन से दहेज पर रोक लगने की संभावनाएं बनी हुई हैं।

7. वैवाहिक अनिवार्यता समाप्त

पहले के समय में विवाह एक धार्मिक बाध्यता के रूप में निर्धारित था और सभी को ऋणों से उऋण होने तथा पुरुषार्थों की प्राप्ति के उद्देश्य से विवाह संस्कार करने ही पड़ते थे, परंतु वर्तमान समय में परिस्थितियाँ वैसी नहीं रही। आज धार्मिक पक्ष की शिथिलता और समय तथा आस्था की कमी के कारण विवाह की अनिवार्यता के विचार में कमी आ रही है।

8. जीवन साथी के चयन में स्वतंत्रता

प्राचीन समय में जीवन साथी का चयन परिवार द्वारा ही कर दिया जाता था और इस बारे में वर-वधू से कोई विचार-विमर्श नहीं किया जाता था। अर्थात उन्हें जीवन साथी का चुनाव करने का अधिकार नहीं था, परंतु वर्तमान समय में वर अथवा वधू को अपने जीवन साथी के चयन में पर्याप्त स्वतंत्रता प्राप्त है तथा परिवार व नातेदारों का हस्तक्षेप इन मामलों में धीरे-धीरे कम होता चला जा रहा है।

9. प्रेम विवाह

वर्तमान समय में प्रेम विवाह का प्रचलन काफ़ी तेज हो चुका है। सह-शिक्षा, औद्योगीकरण, पश्चिमी सभ्यता, सिनेमा आदि के प्रभाव से प्रेम विवाह को काफ़ी प्रोत्साहन मिला है। साथ ही नवीन कानूनों में भी इसके विरुद्ध किसी प्रावधान की चर्चा नहीं है। हालांकि इन विवाहों का प्रचलन गावों में नाममात्र ही है।

10. बेमेल विवाह समाप्त

प्राचीन समय में कुलीन विवाह और दहेज से बचाव के प्रयोजन से बेमेल विवाह कर दिए जाते थे। सामान्य तौर पर वर और वधू की आयु में20 वर्ष का अंतर पाया जाता था, परंतु आज के समय में वर और वधू को पर्याप्त अधिकार प्राप्त हैं तथा उनके आयु में अंतराल कम ही पाया जाता है। इससे वैवाहिक जीवन सुदृढ़ तथा सुखमय बना रहता है।

11. अंतर्जातीय विवाह

कानून द्वारा दी गई मान्यताओं के आधार पर वर्तमान समय में अंतर्जातीय विवाहों की संख्या में दिन-प्रतिदिन इज़ाफ़ा होता जा रहा है। इसके अलावा महानगरों में जाति व्यवस्था के कमज़ोर होने के कारण भी अंतर्जातीय विवाहों का प्रचलन तेज़ हुआ है। हालांकि आज भी ये विवाह बहुत कम मात्रा में होते हैं।

12. पत्नी की स्थिति में सुधार

प्राचीन समय में पत्नी को अधिकार नहीं दिए जाते थे, उसे स्वतंत्रता नहीं थी, निर्णयों में उसकी भागीदारी आवश्यक नहीं होती थी। उसे एक दासी के रूप में माना जाता था, परंतु आज के समय में पत्नी को पति के ही समान प्रस्थिति प्रदान की जाती है।

13. विवाह अधिनियम और कानून

हिंदू विवाह अधिनियम के क्रियान्वयन के पूर्व विवाह में कई भिन्नताएँ पाई जाती थी। इसके पूर्व मिताक्षरा और दायभाग में उल्लेखित नियमों के अनुरूप ही वैवाहिक क्रियाएँ संपन्न की जाती थी। इसके कारण रीति-रिवाजों, नियमों आदि में काफ़ी भिन्नताएँ थीं, परंतु हिंदू विवाह अधिनियम के नियोजन के पश्चात ये विविधताएँ समाप्त हो गई और सभी के लिए नियमों में एकरूपता आ गई।

2.5 विवाह में परिवर्तन के कारक

विवाह में उक्त वर्णित आधुनिक परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी प्रमुख कारकों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है–

- विवाह में हो रहे आधुनिक परिवर्तनों को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारकों में से औद्योगीकरण एक है। औद्योगीकरण के कारण लोगों की धारणाओं में काफ़ी परिवर्तन आए हैं।
- वर्तमान शिक्षा व्यवस्था ने भी विवाह को परिवर्तित करने का काम किया है।
- आधुनिक कानून व्यवस्था द्वारा भी विवाह के स्वरूप को परिवर्तित किया गया है। वर्तमान संदर्भ में कानून और नियमों से सामाजिक जीवन का कोई पक्ष अछूता नहीं रह गया है।
- विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास ने व्यक्ति की धारणाओं और जीवन शैली को परिवर्तित करने का काम किया है। इस कारण से विवाह की मान्यता और प्रकार्यों में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है।
- संचार क्रांति ने विवाह के आधुनिक परिवर्तन को नियोजित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।
- वैश्वीकरण, बाज़ारीकरण, उपभोक्तावादी संस्कृति तथा पश्चिमी सभ्यता ने विवाह की संरचना को परिवर्तित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है।

2.6 सारांश

समकालीन समय में परिवर्तन बहुत तेज़ी से क्रियान्वित हो रहे हैं और परिवार तथा विवाह भी इससे अछूते नहीं रहे हैं। इस इकाई के माध्यम से परिवार और विवाह जैसी महत्वपूर्ण संस्था में होने वाले आधुनिक परिवर्तनों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। साथ ही इन परिवर्तनों हेतु उत्तरदायी कारकों के बारे में भी विवरण प्रस्तुत किया गया है।

2.7 बोध प्रश्न

प्रश्न 1: परिवार में होने वाले आधुनिक परिवर्तनों को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2: परिवार को परिवर्तित करने वाले कारकों को रेखांकित कीजिए।

प्रश्न 3: विवाह में होने वाले आधुनिक परिवर्तन कौन से हैं? स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 4: विवाह के परिवर्तन में उत्तरदायी कारकों पर प्रकाश डालिए।

2.8 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

कपाड़िया, के.एम. (1966). *मैरिज एंड फैमिली इन इंडिया.* ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

रॉय, पी.के.(2000). द *इंडियन फैमिली, चेंज एंड पर्सपेक्टिव.* नई दिल्ली: ज्ञान पब्लिशिंग हाउस।

पटेल,टी. (2005). द *फैमिली इन इंडिया.* नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशन्स।

पैट्रिक, सी.एम. (2005). (तीसरा संस्करण). *फैमिलीज़ एंड चेज़- कोपिंग विथ स्ट्रेसफुल इवेंट्स एंड ट्राजिसंस.* लंदन: सेज पब्लिकेशन्स।

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई 3
पितृसत्ता एवं जेंडर विमर्श

इकाई रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 पितृसत्ता: संकल्पना और अर्थ
3.3 नारीवादी परिप्रेक्ष्य
3.4 भारत में पितृसत्ता का स्वरूप
3.5 सेक्स (लिंग) और जेंडर
3.6 जेंडर विमर्श
3.7 सारांश
3.8 बोध प्रश्न
3.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप –

- पितृसत्ता की संकल्पना और अर्थ को स्पष्ट कर सकेंगे।
- नारीवादी परिप्रेक्ष्य को रेखांकित कर सकेंगे।
- जेंडर विमर्श का विश्लेषण कर पाएंगे।

3.1 प्रस्तावना

पितृसत्ता एक अवधारणात्मक पद है। यह एक प्रकार की सत्ता है, जिसमें शक्ति का मजबूत संचार होता है। इस शक्ति के कारण पुरुष का आधिपत्य स्त्री पर स्थापित होता है और वह इस आधिपत्य को बनाए रखता है। पितृसत्ता में स्त्री पुरुष के अधीन रहने के लिए विवश रहती हैं। परिवार, समाज, समूह, समुदाय आदि स्तरों पर स्त्री-पुरुष के मध्य असमानतापूर्ण वातावरण को जन्म देने और उसे निरंतर क्रियाशील रखने में पितृसत्ता की मुख्यभूमिका रही है।

किसी भी जीव अथवा प्राणी में अंडाणु उत्पन्न करने वाले (मादा प्रजाति) और शुक्राणु उत्पन्न करने वाले (नर प्रजाति) के मध्य के मूल अंतर को सेक्स/यौन कहा जाता है, जबकि उनके मध्य के सामाजिक अंतर को जेंडर कहा जाता है। इस संबंध में प्रसिद्ध समाजशास्त्री अन्ना ओकले का कथन है, *"सेक्स शब्द का आशय स्त्री-पुरुष के जैविकीय विभाजन से है, जबकि जेंडर से आशय स्त्रीत्व और पुरुषत्व के रूप में किए गए सामाजिक विभाजन से है।"*

3.2 पितृसत्ता: संकल्पना और अर्थ

पितृसत्ता जैसा कि नाम से ही स्पष्ट हो रहा है कि यह पुरुष केंद्रित संकल्पना है, जो उनकी शक्ति और सत्ता को प्रदर्शित करता है। सत्ता का सीधा अर्थ होता है एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष पर आधिपत्य, नियंत्रण अथवा वर्चस्व स्थापित करना अथवा अपनी इच्छा को दूसरे पर थोपना। वास्तव में पितृसत्ता एक ऐसी व्यवस्था है जो परंपरा, व्यवहारों आदि के नियमों द्वारा स्त्रियों की अपेक्षाकृत पुरुषों की शक्ति, सत्ता और अधिकारों की उच्चता का प्रतिनिधित्व करती है। लर्नर की चर्चित पुस्तक *'क्रिएशन ऑफ पैट्रियार्की'* में पितृसत्ता को पुरुषों के संस्थाकरण के रूप में वर्णित किया गया है। यह स्त्रियों पर पुरुषों के अधिकार का ऐसा विस्तार है जिसके आधार पर पुरुषों के अधिकारों को सभी पक्षों में व्यावहारिक तौर पर स्त्रियों की तुलना में श्रेष्ठतम के रूप में मान्यता दी जाने लगती है। अर्थात् पितृसत्ता एक वैचारिकी न होकर सामाजिक व्यवस्था द्वारा संचालित व्यवहारों का एक समुच्चय है।

पितृसत्ता अंग्रेजी शब्द *'पैट्रियार्की'* का हिंदी रूपांतरण है, जो यूनानी शब्दों 'पैटर' और 'आर्के' से मिलकर बना है। 'पैटर' का आशय पिता तथा 'आर्के' का आशय शासन से होता है। अतः पितृसत्ता का शाब्दिक अर्थ है। 'पिता का शासन'। यह एक मानवशास्त्रीय शब्द है, समाज में पुरुषों की सत्ता और वर्चस्व को बनाए रखने की कवायद करता है। पीटर लेस्लेट ने अपनी पुस्तक *'द वर्ल्ड वी लॉस्ट'* में बताया कि औद्योगीकरण से पूर्व इंग्लैंड के समाज की परिवार-व्यवस्था पितृसत्तात्मक थी। तत्कालीन परिवार मिश्रित प्रकृति के हुआ करते थे और सामान्यतः परिवार के सदस्य के रूप में न केवल पति-पत्नी और उनके बच्चे ही नहीं गिने जाते थे, अपितु दादा-दादी, चाचा-चाची, भतीजा-भतीजी, नौकर-चाकर आदि सभी उसकी परिधि में आते थे। परिवार-व्यवस्था न केवल उत्पादन की इकाई के रूप में स्थापित थी, वरन एक सामाजिक इकाई भी थी। पिता अथवा सबसे बुजुर्ग पुरुष का संपत्ति पर पूर्ण अधिकार रहता था और इसके अलावा उसका परिवार के अन्य सदस्यों(चाहे वे स्त्री हों अथवा पुरुष)पर निरंकुश नियंत्रण रहता था। यह अधिकार उत्तराधिकार के निश्चित और पूर्वनिर्धारित नियमों के अंतर्गत एक पुरुष से दूसरे पुरुष को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होता रहता था। स्वतंत्र भारत में भी इस तरह की परिवार-व्यवस्था (संयुक्त परिवार) बनी रही और यहाँ की परंपरा में भी राजा को प्रजा-पालक (पिता) मानने की प्रथा बलवती रही है।

भारतीय समाज में नाना प्रकार की असमानताएँ व्याप्त हैं। उन्हीं में से एक स्त्री-पुरुष के मध्य की असमानता भी है। सामान्यतः पितृसत्ता का प्रयोग इसी असमानता को अभिव्यक्त करने के लिए किया जाता है। विभिन्न नारीवादियों में इसकी परिभाषा को लेकर मतभेद रहा है। कुछ नारीवादी तो यह मानते हैं कि इसका इस्तेमाल ही अनुपयोगी है। इसके दो कारण माने जा सकते हैं, एक आरंभ से पितृसत्ता शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया जा रहा था वह और दूसरा कारण- वह पृष्ठभूमि, जिसमें स्त्री की अधीन स्थिति और पुरुषों के वर्चस्व को दर्शाने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाना प्रारंभ हुआ था। पितृसत्ता का संबंध सदैव से पुरुषों की सत्ता, शक्ति, प्राधिकरण, आधिपत्य, नियंत्रण, दमन, स्त्रियों की दासता,

अवमानना, अधीनता, हीनता से माना जाता रहा है। पितृसत्ता एक प्रकार की प्रणाली है जो सामाजिक व्यवहार, प्रथा और वैचारिक निर्मिति से परिभाषित है, जिसमें पुरुषों द्वारा स्त्रियों के प्रजनन, उत्पादन, मातृत्व, पालन-पोषण आदि से संबंधित फैसलों का चयन स्वयं ही करते हैं।

- **एस. वेलबे**–*"पितृसत्ता एक सामाजिक ढांचे और आचरण को कहते हैं, जिसमें पुरुष द्वारा स्त्रियों का शोषण किया जाता है। पितृसत्ता पुरुषों और स्त्रियों के मध्य के अन्यायपूर्ण संबंधों को प्रदर्शित करती है और दोनों के बीच एक गहरी खाई निर्मित करती है। स्त्रियों को स्वयं के साथ जैविक और प्राकृतिक मतभेदों के कारण लिंग असमानता, शोषण, हिंसा, अवमानना आदि से गुजरना पड़ता है। लिंग असमानता के कारण उन्हें भोजन, देख-रेख, स्वास्थ्य, रोज़गार, निर्णय लेना, रोज़गार आदि अधिकारों से वंचित रहना पड़ता है।"*
- **जी. लर्नर**–*"पितृसत्ता परिवार में स्त्रियों और बच्चों पर पुरुषों के वर्चस्व के प्रकटीकरण, संस्थानीकरण और उनका विस्तारीकरण है। इसमें यह तथ्य अंतर्निहित है कि समाज में व्याप्त सभी महत्वपूर्ण संस्थाओं पर पुरुषों का आधिपत्य है और उन वर्चस्वशाली परिस्थितियों तक स्त्रियाँ पहुँच पाने में असमर्थ हैं।"*

पितृसत्ता और पितृत्ववाद दो ऐसी अवधारणाएँ हैं जो एक-दूसरे के पूरक के रूप में काम करती हैं और पुरुषों द्वारा स्त्रियों पर आधिपत्य में अपनाए गए तरीकों के प्रति विवेचनात्मक रवैया धारण करती हैं। पितृत्ववाद शक्तिशाली पक्ष द्वारा अपने से कमज़ोर पक्ष पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए बनाए गए संबंधों को विश्लेषित करता है। इन संबंधों के रूप में शक्तिशाली पक्ष स्वयं से कमज़ोर पक्ष पर आधिपत्य तो बनाता ही है और साथ ही साथ आधिपत्य के बोध को स्वयं द्वारा किए गए आभारों और उपकारों से कम भी करता रहता है। इस प्रकार से कमज़ोर पक्ष उपकार और सुरक्षा के बरक्स? में शक्तिशाली समूह के प्रति समर्पण और बेगार? करता रहता है। मोटे तौर पर यदि कहा जाए, तो पितृसत्ता के तहत विकसित परिवारों के संबंधों से ही पितृत्ववाद की संकल्पना का जन्म हुआ है। अर्थात् यह पितृसत्ता की ही एक उपकोटि है, जिसे बनाए रखने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि कमज़ोर और अधीनस्थ पक्ष को इस बात पर अशक्त करना होगा कि उनका रक्षक ही उनका मालिक है, वही उनकी सभी आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम है। पितृत्ववाद का सबसे उल्लेखनीय तत्व यह है कि एक ओर जहां यह पुरुषों के वर्चस्व की व्यवस्था के कठोरतम लक्षणों को लचीला स्वरूप प्रदान करता है, वहीं दूसरी ओर अधीनस्थ पक्ष के सामर्थ्य का भी ह्रास करता है और वे कमज़ोर सामर्थ्य के कारण स्वयं के आधिपत्य के बारे में संज्ञान नहीं कर पाते हैं।

मोटे तौर पर पितृसत्ता की विशेषताओं को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है-

1. प्रभुत्व और वर्चस्व की बागडोर पुरुषों के हाथ में होती है।
2. इसमें संपत्ति का हस्तांतरण पीढ़ी-दर-पीढ़ी पिता से पुत्र की ओर होता है।

3. विवाहेत्तर स्थान पितृस्थानीय होता है।
4. इसका एक उपभाग पितृवंशीय परंपरा क्रम होता है।

पुरुषों के अधिकारों और उपलब्धियों को स्त्रियों की तुलना में अधिक महत्व दिया जाता है।

3.3 नारीवादी परिप्रेक्ष्य

अनेक नारीवादी विद्वानों / विदु षियों द्वारा पितृसत्ता को लैंगिक असमानता, शोषण, अवमानना व हिंसा के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। वे इसे स्त्री पर हो रहे शोषण और अत्याचारों को उत्पन्न करने की जड़ के रूप में देखते हैं। यदि परिवार का ही उदाहरण लें, तो परिवार को एक उदारवादी संस्था माना जाता है और यह सभी सदस्यों के हित को लेकर काम करती है, परंतु उनके अनुसार यह एक अलोकतांत्रिक संस्था होती है। परिवार में पारिवारिक और वैयक्तिक निर्णयों को लेने के लिए या तो स्त्रियों के मत को अनुपयुक्त माना जाता है या उन्हें इन अधिकारों से वंचित रखा जाता है। वे परिवार का सदस्य होते हुए भी पुरुषों के अधीन रहने वाली वस्तु से अधिक कुछ भी नहीं मानी जाती हैं। शताब्दियों से चली आ रही इस व्यवस्था को धार्मिक परंपराओं, रिवाजों और मान्यताओं की वैधता प्राप्त है। इस संबंध में नारीवादियों द्वारा सदैव मनुस्मृति का उदाहरण पेश किया जाता है, जिसमें स्त्रियों के लिए नियोजित किए गए कर्मकांड और क्रियाकलाप पुरुषों से अलग और अपेक्षाकृत दु ष्कर हैं। विधवा स्त्री को पुनर्विवाह करने की अनुमति नहीं है, उन्हें अनेक प्रकार के निषेधों का पालन आजीवन करना पड़ता है, परंतु पुरुषों के लिए इस परिस्थिति में अलग ही प्रावधान हैं। वे कुछ ही समय के लिए निषेधों का पालन करते हैं और उसके पश्चात उससे मुक्त हो जाते हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक प्रणालियों में पुरुषों के प्रभुत्व और स्त्रियों की अधीनता को स्वीकार करने की संरचना ही पितृसत्ता है।

पितृसत्ता की संरचना पुरुषों के स्त्रियों पर आधिपत्य को प्रदर्शित करती है।पुरुषों का स्वभाव स्त्रियों की तुलना में अधिक प्रतिस्पर्धा उन्मुखी होता है। उनमें सत्ता प्राप्त करने और शक्ति को बनाए रखने, प्रभुत्व और वर्चस्वशाली बनने, जाति और लिंग को सर्वोच्च मानने आदि गुणों की उपलब्धता पर्याप्त मात्रा में होती है। इसके विपरीत स्त्रियाँ शर्मीली, सभ्य, संस्कारी आदि प्रकृति की होती हैं। इसके कारण ही पुरुष अपनी सर्वोच्चता, प्रभुत्व और शक्तियों को ऊर्ध्वाधर संवर्धित करने की ओर अग्रसर रहते हैं। पितृसत्ता में वरिष्ठ पुरुष अनिवार्य रूप से परिवार की सभी आर्थिक व संपत्ति संसाधनों पर नियंत्रण रखताहै और साथ ही साथ वह परिवार के अन्य सभी स्त्रियों व पुरुषों पर भी हावी रहता है। समाज के अनेक स्थानों में पितृसत्ता के अस्तित्व को देखा जा सकता है, यथा– परिवार में, चिकित्सा, मीडिया, धार्मिक क्रियाओं व संरचनाओं में महिलाओं के अधिकारों के हनन में सरकार पर विभिन्न रूपों में नियंत्रण आदि। यह एक रूढ़िबद्ध धारणा है जो मनुष्य की मानसिकता और अंतर्दृष्टि को संकुचित करती हैं और उन्हें जटिलताओं व विरोधाभासों को उपेक्षित करने के लिए प्रोत्साहित करती है।

वर्चस्वशाली रूढ़िबद्ध धारणाओं के अनुसार पुरुष और स्त्री के अपनेअलग-अलग काम और प्रकृति होती है। पुरुष अथवा उसके पुरुषत्व का संबंध तार्किक, आक्रामक, उग्र, महत्वाकांक्षी आदि से है और वहीं स्त्री अथवा उसके स्त्रीत्व (नारीत्व) का संबंध शर्मीली, सीधा स्वभाव, सहनशील, निर्भर, कमज़ोर, कोमल आदि से है। ये प्रारूप लैंगिक असमानता को दो बड़े भागों में वर्गीकृत कर सकने में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वहन करते हैं। नारीवादी विद्वानों ने प्रत्यक्ष तौर पर इन प्रारूपों की आलोचना की है।

नारीवादी **मारग्रेट मीड** का मानना है कि पुरुषत्व और नारीत्व को निर्धारित करने वाले मानक अथवा प्रारूप संस्कृतियों और परंपराओं के अनुरूप होते हैं। सभी समाजों में पर्याप्त विभेद पाया जाता है और इसी क्रम में उनकी संस्कृति, परंपरा, संस्कार, व्यवहार, मान्यताएँ आदि भिन्न-भिन्न होती हैं। इन्हीं के अनुरूप समाज विशेष में पुरुषत्व और नारीत्व से संबंधित व्यवहारों का सृजन होता है। इसी आधार पर पुरुषों को शारीरिक श्रम के कार्यों में कुशलता दी जाती है और स्त्रियों को संस्कारिक कार्यों में।

सिमोन द बुवा का एक कथन बहुत प्रसिद्ध है, *"जन्म से ही कोई स्त्री, स्त्री नहीं होती है, उसे स्त्री बनाया जाता है।"* यदि इस कथन का विश्लेषण किया जाए, तो यह निष्कर्ष निकलता है कि समाज द्वारा स्त्री को उस रूप में ढाला जाता है जो उसके स्त्रीत्व की प्रवृत्ति द्वारा परिभाषित हो। भारतीय समाज में जैविक नियतिवाद के कारण स्त्रियों को बचपन से ही स्त्रीत्व वाले गुणों में संलग्न कर दिया जाता है, यथा– भोजन पकाना, पुरुष के अधीनस्थ रहना, कमज़ोर और सहनशील बनना, चहारदीवारी में कैद रहना, कम बोलना, शर्मीले स्वभाव का होना आदि।

पितृसत्ता की भांति ही एक और प्रकार की सत्ता होती है, जो स्त्रियों की केंद्रीय भूमिका का प्रतिनिधित्व करती है उसे मातृसत्ता के नाम से जाना जाता है। इसके यह माना जाता है कि समाज की सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था पर आधिपत्य माता अथवा वरिष्ठ महिला का होता है। इसमें स्त्री और पुरुष उत्पादन और सत्ता में समान रूप से साझा कार्य करते हैं। हालांकि आज इस प्रकार प्रणाली से संबंधित समाजों का अस्तित्व न के बराबर है। कुछ नारीवादी विचारकों का मानना है कि पितृसत्ता का विकास इतिहास के एक पड़ाव पर कुछ निश्चित कारणों से हुआ और इसमें परिवर्तन भी किया जा सकता है।

3.4 भारत में पितृसत्ता

भारतीय समाज में पितृसत्ता की जड़ें काफ़ी मजबूत हैं और इसके कारण स्त्रियों की स्थिति अत्यंत जटिल और उलझी हुई है। भारत में कई प्रकार के खेमे बंटे हुए हैं, यथा– जाति, वर्ग, धर्म, भाषा, क्षेत्र, संस्कृति आदि। इन सभी भागों में स्त्रियों की स्थिति अलग-अलग है और उसी के अनुरूप पितृसत्ता का स्वरूप भी है। भारतीय समाज जाति व्यवस्था के कारण पितृसत्ता के निर्माण की प्रक्रिया और उसके स्वरूप के स्तर पर अन्य समाजों से भिन्न स्वरूप धारण किए हुए है। जातिगत संरचना में ब्राह्मण सर्वोच्च प्रस्थिति पर काबिज जाति है, परंतु इसमें पितृसत्ता और परंपरा का बोलबाला अधिकाधिक मात्रा में है, जिसके कारण स्त्रियों की स्थिति और भी दयनीय हो जाती है। इसके विपरीत जातिगत संस्तरण व्यवस्था की सबसे निम्न

प्रस्थिति पर शूद्र काबिज हैं, परंतु उनमें अपेक्षाकृत पितृसत्ता की स्थिति कमज़ोर होती है और स्त्रियों की दशा कुछ मामलों में बेहतर रहती है। अर्थात् जातीय संस्तरण की उच्चतम जाति से निम्नतम जाति की ओर पितृसत्ता की संरचना में आंशिक तौर पर लचीलापन आ जाता है। जाति संरचना के साथ संबद्ध पितृसत्ता को ब्राह्मणवादी पितृसत्ता की संज्ञा दी जाती है, क्योंकि यह यह ठीक ब्राह्मणवादी विचारधारा के सदृश्य काम करती है। इस संबंध **उमा चक्रवर्ती** के मत का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है–

- यह स्त्री की पुरुष अधीनता के विभिन्न स्वरूपों में से कोई एक रूप मात्र नहीं, अपितु संपूर्ण हिंदू समाज और जाति आधारित व्यवस्था से संबंधित विशिष्ट प्रणाली है। अधिकांश भारत में अपनी पैठ बना चुकी इस पितृसत्तात्मक संरचना की अलग पहचान प्रदर्शित करने के प्रयोजन को सिद्ध करने हेतु ब्राह्मणवादी पितृसत्ता का इस्तेमाल उचित है।
- इसके नियमों में जाति व्यवस्था में पवित्र और अपवित्र की संकल्पना का भी उल्लेखनीय स्थान है। जाति की स्थिति और पवित्र और अपवित्र के अनुसार ही उसकी स्त्रियों के लिए नियम सुनिश्चित किए गए हैं। इन नियमों के नियोजन और क्रियान्वयन का अधिकार जातिगत संस्तरण की ऊँची जातियों के पास रहा है।
- यह पतिव्रता और साध्वी स्त्रियों के गुणगान को महत्व देता है और उनके महिमामंडन द्वारा अन्य स्त्रियों को उनका उदाहरण देता है। साथ ही साथ इसी आधार पर उनकी अधीनता के लिए सहमति भी प्राप्त करता है। ये सभी व्यवस्थाएँ सुचारु रूप से कार्यान्वित हो सकें इसके लिए ज़रूरत पड़ने पर दंड का प्रावधान भी किया गया है।
- वस्तुतः यह नियमों और संस्थानों का एक ऐसा समुच्चय है जिसमें जाति और जेंडर दोनों एक-दूसरे से अंतर्संबंधित हैं और एकदूसरे के स्वरूप का निर्धारण करते हैं।ये दोनों आपस में ही एक-दूसरे की वैधानिकता का भी खयाल रखते हैं। इसका इस्तेमाल स्त्रियों के मध्य श्रेणीक्रम बनाए रखने के साधन के रूप में होता है।
- जाति संरचना का मूल मंतव्य श्रम का दोहन है और इसी कारण जेंडर आधारित नियमों की व्यवस्था की गई, ताकि ऊँची जातियों को इसका लाभ सरलता से प्राप्त हो सके।
- जैसा कि ऊपर भी बताया जा चुका है कि निम्न जातियों में महिलाओं की स्थिति अपेक्षाकृत कुछ बेहतर होती है। वे अपनी आनुष्ठानिक प्रस्थिति उठाने के लिए इन नियमों का अनुसरण करना आरंभ कर देती हैं। इस क्रम में वे जातियाँ इस बारे में संज्ञान विकसित नहीं कर पातीं हैं कि उच्च और निम्न जातियों की स्त्रियों के लिए विवाह और यौन से संबंधित भिन्न-भिन्न प्रकार के नियमों की व्यवस्था की गई है। यह इस बात से पुष्ट किया जा सकता है कि एक तरफ ऊँची जातियों में विधवा पुनर्विवाह पर निषेध लगाया गया है और वहीं दूसरी तरफ निम्न जातियों की स्त्रियों के लिए विधवा पुनर्विवाह पर कोई निषेध नहीं लगाया गया है।

पितृसत्ता के अंतर्गत सामाजिक संरचना में प्रायः उच्च पद और स्थान पुरुषों द्वारा संचालित और निर्देशित होते हैं। नौकरशाही, विभिन्न सरकारी पद, और व्यावसायिक निकायों आदि उदाहरणों के द्वारा इस बात को पुष्ट किया जा सकता है।

भारत के सभी समाज जाति के आधार पर ही गठित नहीं हैं, वरन यहाँ जनजाति समाज-व्यवस्थाएँ भी विद्यमान हैं। इन समाजों में पितृसत्ता का स्वरूप अलग प्रकार का है। जाति व्यवस्था के लगातार प्रसार और धीरे-धीरे कतिपय जनजातीय समाजों द्वारा इसे अपना लिया जाना स्वयं में एक व्यापक प्रक्रिया है और इन्हीं के आलोक में नारीवादी विचारकों द्वारा जाति समाज की पितृसत्ता को वर्चस्वशाली स्वरूप के रूप में स्वीकार किया है, जिससे जनजातीय पितृसत्ताएँ भी प्रभावित हुई होंगी।

3.5 सेक्स (लिंग) और जेंडर

नारीवादी चिंतन और विद्वानों का सबसे बड़ा योगदान है 'सेक्स' और 'जेंडर' में अंतर स्पष्ट करना। हालांकि इन दोनों शब्दों को एक ही मान लिया जाता है, परंतु इन दोनों शब्दों में पर्याप्त अंतर होता है। सेक्स जैविक पक्ष को इंगित करता है, जो स्त्री और पुरुष में विद्यमान जैविक विभेद को प्रस्तुत करता है। वहीं जेंडर शब्द सामाजिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है, जो स्त्री और पुरुष के मध्य सामाजिक भेदभाव को प्रदर्शित करता है। जेंडर शब्द इस बात को पुष्ट करता है कि जैविक भेद से इतर जितने भी विभेद दिखते हैं, वे प्राकृतिक नहीं हैं, अपितु उन्हें समाज द्वारा बनाया गया है। इस संबंध में एक और मत सामने आता है कि यदि इसे समाज द्वारा रचा गया है, तो इसे समाप्त भी अवश्य किया जा सकता है। समाज द्वारा ऐसा करने के लिए पूरी प्रक्रिया चलाई जाती है। अर्थात् सामाजीकरण की प्रक्रिया के अंतर्गत जन्म से ही बालक व बालिका को अलग-अलग तरीके से अनुशासित किया जाता है, अलग तरीके से पालन-पोषण किया जाता है, अलग सीख दी जाती है, यहाँ तक कि उनके निषेधों में भी पर्याप्त अंतर देखने को मिलता है। इस प्रक्रिया को हम सभी समाजों में महसूस कर सकते हैं। लड़कों में पुरुषत्व और महिलाओं में स्त्रीत्व के तत्वों को समावेशित किया जाता है और उन्हें उसी के अनुरूप व्यवहार करने की पर्याप्त शिक्षा दी जाती है। लड़कियों को शर्मीली, दयालु, कोमल, सेवाभाव रखने वाली, साधारण व घरेलू समझा जाता है तथा लड़कों को क्रोधी, मजबूत, ताकतवर, सख़्त व वीर समझा जाता है और समाज द्वारा इसी के अनुरूप उन्हें ढाला जाता है। जैविक बनावट और संस्कृति के अंतर्संबंधों को समेटते हुए जेंडर के विमर्श पर विश्लेषित किया जाए, तो यह कहा जा सकता है कि महिलाओं की शारीरिक बनावट भी सामाजिक बंधनों और सौंदर्य के मापदंडों द्वारा नियत की गई है। अर्थात् महिलाओं का शारीरिक स्वरूप जितना प्रकृति से निर्धारित हुआ है उतना ही संस्कृति से भी।

सामाजिक आधार पर यदि इसे विश्लेषित किया जाए, तो स्पष्ट तौर पर स्त्री की भूमिका शोषित की रही और पुरुष की शोषक की। आरंभिक नारीवादियों के लेखन में इसका उल्लेख मिलता है, यथा- **मारग्रेट फूलर** द्वारा लिखित कृति *"वुमन इन द नाइंटीन्थ सेंचुरी"* (1845) में, **हैरिस्ट टेलर मिल** की कृति *"इन*

फ्रेनचीसमेन्ट ऑफ वुमेन" (1851) में, **जॉन स्टुअर्ट मिल** की पुस्तक *"ए सब्जेक्शन ऑफ वुमन"* (1865) में और **फ्रेडरिक ऐगल्स** द्वारा लिखित प्रसिद्ध पुस्तक *"परिवार निजी संपति और राज्य की उत्पति"*(1884) आदि पुस्तकों में मिलता है। आगे चलकर इस विषय पर बहुत लेखन कार्य हुए जिनमेंसे प्रमुख **सिमोन द बूवा** की कृति*"द सेकंड सेक्स"*(1949), **बेट्टी फ्रीडेन** द्वारा लिखित *"द फेमिनिन मिस्टिक"* (1963), **एस.एफ़. स्टोन** की कृति *'डायलेक्टिक ऑफ सेक्स'*(1968) और **जूलियट मिशेल** की *'वुमेन स्टेट'* (1971) आदि प्रमुख हैं।

जेंडर एक समय में एक विशेष आयाम पर महिला अथवा पुरुष से संबंधित आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक विशिष्टताओं और अवसरों को प्रदर्शित करता है। कई देशों में यह माना जाता है कि लिंग द्वारा ही संस्कृति का निर्धारण होता है, क्योंकि नियम और क़ानूनों का नियोजन महिला और पुरुष को संदर्भित करके किया जाता है। महिलाओं के लिए घरेलू काम और पुरुषों के लिए बाहरी काम। जेंडर व्यक्ति की सामाजिक अस्मिता से जुड़ा हुआ है, परंतु सेक्स मनुष्य के शरीर मात्र से संबंधित होता है। जेंडर एक मानसिक संरचना है, जबकि सेक्स एक जैविक अथवा शारीरिक संरचना है। जेंडर का जुड़ाव सामाजिक पक्ष से है, परंतु सेक्स शरीर के रूप और आकार का प्रतिनिधित्व करता है। जेंडर मनोवैज्ञानिक है और इसकी अभिव्यक्ति सामाजिक है, परंतु सेक्स संरचनात्मक प्रारूप को धारण किए हुए है।

मारग्रेट मीड के अनुसार, *"अनेक संस्कृतियों में नारीत्व और पुरुषत्व को विभिन्न ढंग से समझा जाता रहा है। जैसे जन्म से ही महिलाओं और पुरुषों के मध्य कुछ विशेष तरीके से विभेद करने का प्रयास आरंभ कर दिया जाता है और इस अंतर को जीवन भर बनाए रखा जाता है।"*

3.6 जेंडर विमर्श

विगत वर्षों से जेंडर जैसे गंभीर मुद्दे पर खूब चर्चाएँ की जाने लगी हैं। इस मुद्दे पर कई अध्ययन भी हुए हैं और उनसे प्राप्त आंकड़े निःसंदेह संतोषजनक नहीं हैं। एक ओर तो हम सब सामाजिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में समानता की बात करते हैं, पर दूसरी ओर ये आंकड़ें कुछ और ही सच्चाई बयां कर रहे हैं। सैद्धांतिक तौर पर चाहे जितनी भी बातें की जा रही हैं, अध्ययन हो रहे हैं, वैचारिक संगोष्ठियाँ की जा रही हैं, परंतु व्यावहारिक तौर पर अभी भी जेंडर के मुद्दे पर प्रभावी कदम उठाने की आवश्यकता है।

एक नज़र यदि इतिहास पर डालें तो ब्रिटिश काल में कई वीरांगनाएँ और समाज सुधारक थीं, जिन्होंने पुरुषों से कंधा से कंधा मिलाकर विरोध और विद्रोह किया, यथा- रानी लक्ष्मीबाई, रज़िया सुल्तान, झलकारी बाई आदि। इन महिलाओं को मर्दाना की संज्ञा दी जाती है। जैसे रानी लक्ष्मीबाई के बारे में कहा जाता है, *"खूब लड़ी मर्दानी, वह तो झाँसी वाली रानी थी।"*इन सामाजिक निर्धारकों के आधार पर यह निर्धारित कर दिया जाता है कि मर्दों के कौन से काम हैं? और महिलाओं के काम कौन से हैं? साहस, वीरता, क्रोध, अकड़ आदि गुण मर्दों के हैं और लज्जा, सहनशीलता, दया आदि गुण महिलाओं के हैं यह जेंडर के इस प्रारूप से पुरुष और महिला दोनों को समाज में काफ़ी परेशानियाँ आती हैं। यदि किसी

महिला में क्रोध, अकड़ आदि के गुण पाए जाते हैं तो समाज में उसे मर्दाना कहा जाता है और उसका उपहास उड़ाया जाता है। ठीक यही यदि पुरुष शर्मिला, दयावान है तो समाज द्वारा जनाना कहकर उसका मज़ाक बनाया जाता है।

आज हम 21वीं सदी में जी रहे हैं और जेंडर समानता की बातें भी खूब करते हैं पर व्यावहारिकता तो यह है कि कई इलाकों मे आज भी बेटा पैदा होने पर जश्न मनाया जाता है और बेटी होने पर कोई उत्सव नहीं होता है। हालांकि शोक भी नहीं मनाया जाता है। यहाँ विचारणीय तथ्य यह है कि समाज द्वारा पुरुष और महिला की परवरिश ही कुछ इस तरह की जाती है कि वह स्वयं ही जेंडर के लिए समाज द्वारा निर्धारित ढांचे में शामिल हो जाता है। एक छोटे लड़के/लड़की से उसके लिंग के अनुरूप कुछ निषेध और कार्यकलाप कराए जाने लगते हैं और धीरे-धीरे वह उन्हीं कार्यों के तहत अपनी भूमिकाओं को निर्धारित कर लेता है। पितृसत्ता की वैचारिक से ग्रस्त होने के कारण एक स्त्री के साथ उसके जन्म से ही दोयम दर्जे का व्यवहार किया जाने लगता है।

हालांकि नारीवादी आंदोलनों के माध्यम से जेंडर केविमर्श पर काफ़ी काम किया जा रहा है और इसे एक सामाजिक-सांस्कृतिक समस्या मानते हुए सुधारने का प्रयास किया जा रहा है। संवैधानिक तौर पर भी इन असमानताओं और भेदभाव को समाप्त करने की दिशा में कई प्रयास किए गए हैं परंतु ये प्रयास तभी प्रभावी तरीके से लागू हो सकते हैं, जब व्यावहारिक जीवन में इसे स्वीकार किया जाए। यह तभी हो सकता है जब समाज द्वारा महिला अथवा पुरुष के साथ समान व्यवहार किया जाएगा और परंपरागत जेंडर के ढांचे को नष्ट कर दिया जाए। जेंडर के मुद्दे पर आज जितनी भी बहसें की जा रही हैं ये तभी सार्थक होंगी जब समाज के सभी निर्णयों में भागीदारी और पद बराबर का होगा।

3.7 सारांश

पितृसत्ता का अर्थ एक ऐसी सत्ता से है जिसकी बागडोर एक पुरुष के हाथों में होती है। हालांकि इसका स्वरूप स्थान और समय के सापेक्ष अलग-अलग होता है। यह एक सामान्य धारणा है कि पितृसत्ता के कारण ही जेंडर का स्वरूप इतना विकृत हो चुका है। इस इकाई में पितृसत्ता और जेंडर जैसे मुद्दे पर विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

3.8 बोध प्रश्न

प्रश्न 1: पितृसत्ता क्या है? इसकी संकल्पना पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 2: पितृसत्ता से संबंधित नारीवादी दृष्टिकोण के बारे में वर्णन प्रस्तुत कीजिए।

प्रश्न 3: भारत में पितृसत्ता के स्वरूप को बताइए।

प्रश्न 4: सेक्स और जेंडर की संकल्पना पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 5: जेंडर विमर्श के मुद्दे पर प्रकाश डालिए।

3.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

लर्नर, जी. (1987). *क्रिएशन ऑफ पैट्रियार्की.* ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी ऑफ प्रेस।

वेलबे, एस. (1997). *थियोराइजिंग पैट्रियार्की.* कैम्ब्रिज: पोलिटी प्रेस।

चक्रवर्ती, उ. (2010). *पितृसत्ता: जेंडर और शिक्षा (भाग-1).* नई दिल्ली: निरंतर पब्लिकेशन।

परमार, श. (2015). *नारीवादी सिद्धांत और व्यवहार.* नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड।

झा, वि.क. (2011). *जाति समाज में पितृसत्ता.* दिल्ली:ग्रंथ शिल्पी इंडिया प्राइवेट लिमिटेड।

यादव, र. (2003). *पितृसत्ता के नए रूप.* नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।

डैश, एल.एन. (2015). *हेल्थ, जेंडर एंड डेवेलपमेंट.* नई दिल्ली: रेगल पब्लिकेशन्स।

रेगे, श. (2003). *सोशिओलोजी ऑफ जेंडर: द चैलेंजेज़ ऑफ फेमिनिस्ट सोशिओलोजी नॉलेज. नई* दिल्ली: सेज पब्लिकेशन्स।

मिश्र, र. (2014). *रीथिंकिंग जेंडर.* जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स।

सिंह, जे.पी., (2016). (द्वितीयक संस्करण). *आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन: 21वीं सदी में भारत.* नई दिल्ली: पीएचआई लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड।

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई 4

पारिवारिक व्यवस्था में समकालीन समस्याएँ

इकाई रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 पारिवारिक विघटन
4.2 वैवाहिक समस्याएँ
4.3 आर्थिक समस्याएँ
4.4 शारीरिक समस्याएँ
4.5 हिंसा और दु र्व्यवहार
4.6 सारांश
4.7 बोध प्रश्न
4.8 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने पश्चात् आप –

- वैवाहिक समस्याओं को रेखांकित कर सकेंगे।
- आर्थिक तनाव और उससे जुड़ी समस्याओं को स्पष्ट कर सकेंगे।
- शारीरिक अपंगता तथा अन्य समस्याओं के बारे में समझ विकसित कर पाएंगे।
- हिंसा और दु र्व्यवहार की समस्या की व्याख्या कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

समकालीन समय संक्रमणकालीन अवस्था से गुजर रहा है। समाज में कई सारे परिवर्तन हो रहे हैं और कुछ परिवर्तन होने को तैयार हैं। औद्योगीकरण, नगरीकरण, आधुनिकीकरण, भूमंडलीकरण, जनसंख्या वृद्धि, तकनीकी क्षेत्र के नवीन आविष्कारों, जीवन स्तर में परिवर्तन, प्रौद्योगिक विकास आदि के कारण समाज तेज़ी से बदल रहा है और सामाजिक संरचनाओं में भी बदलाव आ रहे हैं। इन बदलावों ने समाज में कई समस्याओं को जन्म दिया है। इन समस्याओं का संबंध परिवार व्यवस्था से भी है। इस इकाई में परिवार व्यवस्था की समकालीन समस्याओं के बारे में विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

4.2 पारिवारिक विघटन

पारिवारिक विघटन, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट हो रहा है- का अर्थ है- परिवार का टूटना। स्नेह, सहयोग, प्रेम आदि परिवार के तत्व होते हैं जो परिवार को एक संगठित इकाई के रूप में बांधे रहते हैं। इन तत्वों में बिखराव ही पारिवारिक विघटन को स्पष्ट करता है। इलियट और मैरिल के शब्दों में, *"व्यापक अर्थों में पारिवारिक विघटन को विभिन्न प्रकार के परिवारों में से किसी परिवार की क्रियाशीलता के रूप में जाना जा सकता है। इस प्रकार पारिवारिक विघटन में केवल पति-पत्नी के मध्य पाया जाने वाला तनाव ही नहीं आता है, अपितु बच्चों और माता-पिता के मध्य पनपने वाला तनाव भी आता है। एक प्रकार्यात्मक इकाई के रूप में पारिवारिक अस्तित्व अनेक व्यक्तिगत संबंधों की निरंतरता पर निर्भर करता है। ये संबंध पारस्परिक होते हैं। प्रत्येक सदस्य दूसरे के साथ सहयोगात्मक भूमिका निभाता है। इन समूह सदस्यों का टूटना ही पारिवारिक विघटन कहलाता है।"*

यहाँ पारिवारिक विघटन के उन कारणों पर विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है, जो सार्वभौमिक तौर पर उल्लेखनीय हैं–

1. सामाजिक मूल्यों की विभिन्नता

सामाजिक मूल्य में विविधता, पारिवारिक विघटन को बढ़ावा देते हैं। यदि माता-पिता और बच्चों के मूल्य, विचार और आदर्श एक जैसे नहीं हुए अर्थात उनमें विविधता रही तो पारिवारिक विघटन होना स्वाभाविक है। सामान्य तौर पर माता-पिता पुराने मूल्यों को प्राथमिकता देते हैं और बच्चों द्वारा नवीन मूल्यों को प्राथमिकता दी जाती है। इस प्रकार पारिवारिक विघटन का खतरा बना रहता है। मूल्यों की विभिन्नता के कारण पति-पत्नी में विवाद भी होते हैं।

2. सामाजिक संरचना में परिवर्तन

सामाजिक संरचना द्वारा ही समाज में व्यक्ति की भूमिका और प्रस्थिति का निर्धारण होता है। वर्तमान समय के परिवर्तनों के कारण सामाजिक संरचनाओं में काफ़ी बदलाव हुए हैं। आज पारिवारिक सदस्य यह तय नहीं कर पा रहे हैं कि परिवार में उनकी भूमिकाएँ क्या हैं? सदस्य अपनी भूमिकाओं का समायोजन नहीं कर पा रहे हैं। इस कारण से भी पारिवारिक विघटन की दशा उत्पन्न होने लगी है।

3. व्यक्तिवादी और भौतिकवादी वैचारिकी

वैचारिकी के ये दोनों ढंग मनुष्य को स्वार्थी बनाते हैं। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि परिवार में सहयोग, प्रेम, स्नेह, परोपकारिता आदि तत्व आवश्यक होते हैं, परंतु व्यक्तिवादी और भौतिकवादी होने के कारण सदस्य परिवार के लिए अपनी भूमिकाओं का निष्पादन उचित तरीके से नहीं कर पाते हैं। वह स्वयं के बारे में ही सोचता है, उसे दूसरों के हित-अहित से कोई फर्क नहीं पड़ता। फलतः परिवार विघटित होने लगता है।

4. औद्योगीकरण और नगरीकरण

औद्योगीकरण और नगरीकरण ने पारिवारिक विघटन में उल्लेखनीय भूमिका निभाई है। औद्योगिक क्रांति के पूर्व सभी उत्पादन और उपभोग का केंद्र परिवार हुआ करता था, परंतु औद्योगिक विकास के पश्चात परिवार के बहुत से कार्यों को अन्य समितियों द्वारा छीन लिया गया। औद्योगीकरण और नगरीकरण दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं और एकदूसरे के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सुविधाओं और नौकरी की आशा में लोग पलायन करने लगे हैं जिससे परिवार पर नियंत्रण कमज़ोर हो रहा है। स्त्रियों की भूमिकाओं में काफ़ी परिवर्तन आए हैं। इन परिस्थितियों केकारण परिवार विघटित हो रहे हैं।

5. निर्धनता

यदि पारिवारिक आय सीमित है तो निर्धनता पारिवारिक विघटन के लिए उत्तरदायी कारक है। धन के अभाव में बुनियादी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो पाती हैं, जिसके कारण परिवार में द्वेष, संघर्ष, क्लेश, कटुता आदि का वातावरण बना रहता है।

6. वैवाहिक आधार में परिवर्तन

पहले के समय में विवाह को अटूट संबंध के रूप में विश्लेषित किया जाता था, परंतु आज के समय में वैवाहिक संबंध को दैवीय इच्छा न मानकर मानवीय इच्छा के अनुरूप तोड़ा भी जा सकता है। इसके अलावा परिवार द्वारा किए जाने वाले व्यवस्थित विवाहों की तुलना में वर-वधू द्वारा तय किए जाने वाले विवाह की संख्या में दिनों-दिन बढ़ोतरी होती जा रही है। आज प्रेम विवाह का चलन तेज हो रहा है और कुछ समय बीत जाने के बाद धीरे-धीरे प्रेम समाप्त हो जाता है तो परिवार विघटित होने लगते हैं।

7. यौन संबंधों की असंतुष्टि

वर्तमान समय में परिवार में होने वाले अधिकतर विघटन यौन संबंधों की असंतुष्टि के कारण होते हैं। यदि पति-पत्नी में एक-दूसरे के प्रति विश्वास की कमी है अथवा वे वैवाहिक दायरे से बाहर यौन इच्छाओं की पूर्ति करते हैं तो इन परिस्थितियों में दंपत्ति एकदूसरे के प्रति घृणा, द्वेष आदि की भावना रखने लगते हैं। फलतः परिवार विघटित हो जाता है।

8. अन्य कारक

मनोरंजन के व्यापारीकरण हो जाने के कारण परिवार के कर्तव्य और जवाबदेही अपेक्षाकृत कम हो चुकी है। साथ ही आधुनिक समय में धर्म से लोगों की आस्था कम हो जाने के कारण भी परिवार का संगठन कमज़ोर होता जा रहा है। इसके साथ ही पति-पत्नी के व्यक्तिगत दोष के कारण भी पारिवारिक विघटन होते हैं।

4.3 वैवाहिक समस्याएँ

वैवाहिक संबंधों की निर्मिति इसी आशा के साथ होती है कि ये संबंध सदा के लिए संबद्ध हो रहे हैं। उनमें सहयोग, प्रेम, स्नेह, आत्मीयता, एक-दूसरे के लिए त्याग, साझेदारी, विश्वास आदि की भावनाएँ निहित होनी चाहिए। यह विश्वास किया जाता है कि विवाह एक ईश्वरीय इच्छा है और इसका उल्लंघन करना अनुचित है। कहा जाता है कि विवाह जन्म-जन्मांतर का संबंध होता है और इसका निर्वहन उचित तरीके से किया जाना चाहिए। दंपत्ति अपना वैवाहिक जीवन इस आशा और प्रतिबद्धता के साथ आरंभ करते हैंकि यदि उन्हें किसी भी परेशानी का सामना करना पड़े, तो वे उसका सामना साथ मिलकर करेंगे। वे इस बात के लिए अशक्त होते हैं कि सुख-दु ख, हानि-लाभ आदि में वे एक दूसरे का साथ देंगे।

, परंतु आधुनिक समय में परिस्थितियाँ बहुत तेजी से बदल रही हैं, जिसके कारण परिवार व्यवस्था में विवाह से संबंधित कई समस्याएँ उजागर होने लगी हैं। जीवन के तनावपूर्ण और चुनौतीपूर्ण होने के कारण अनेक समस्याएँ सामने आने लगी हैं। तलाक की बढ़ती दर के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वर्तमान समय में वैवाहिक समस्याओं में बढ़ोत्तरी हो रही है। तलाक के पीछे कई कारक हो सकते हैं, यथा- दु र्व्यवहार, हिंसा, दहेज, नशाखोरी, पारिवारिक कलह आदि। सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन हो रहे हैं और परिवारवाद, समष्टिवाद के स्थान पर व्यक्तिवादिता की भावना का बोलबाला हो रहा है। लोग कई मायनों में अपने आदर्शों को बदल रहे हैं और स्वयं को अन्य सदस्यों की तुलना में सर्वोपरि मानते हैं, स्वयं के हित साधने के लिए वे पारिवारिक भावनाओं को भी आहत करने से भी नहीं चूकते। अकेलापन, संतानहीनता, विवाह पूर्व और विवाह के पश्चात यौन संबंधों का प्रचलन आम होता जा रहा है, जबकि दूसरी ओर तलाक के आंकड़ें भी तेजी से बढ़ रहे हैं। पहले सामाजिक मानदंड, निषेध और नियम इतने कठोर हुआ करते थे कि पारिवारिक समस्याओं को भी व्यक्ति नजरंदाज कर देते थे और सहयोग तथा स्नेह को बनाए रखने पर ज़ोर देते थे, परंतु आज के समय में ये मानदंड कमज़ोर हो चुके हैं, जिसके कारण तलाक की घटनाएँ सामने आने लगी हैं।

समस्याग्रस्त लोगों में यह पाया गया है कि उनका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य लगातार खराब रहता है। वैवाहिक समस्याओं अथवा तलाक के कारण लोग तनाव में रहने लगते हैं और इसके कारण उनके परिवार के अन्य लोगों के साथ संबंध भी बिगड़ने लगते हैं। पति-पत्नी के मध्य के तनाव के कारण उनके संबंध सास, ससुर, बहन/ननद, भाई/देवर आदि के साथ असंतुलित हो जाते हैं। इस कारण से परिवार की व्यवस्था पर भी बुरा असर पड़ता है। शोध से यह बात स्पष्ट होती है कि वैवाहिक समस्याओं के कारण सिरदर्द, अस्थमा, जोड़ों का दर्द, हृदय रोग जैसी गंभीर बीमारियों के होने की संभावनाएं तेज हो जाती हैं। इसके अलावा इससे वैवाहिक तनाव से निराशा, दुश्चिंता, संदेह आदि जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होने लगती हैं, जिससे व्यक्ति मनोवैज्ञानिक तौर पर अस्वस्थ हो जाता है। तलाक और वैवाहिक समस्याओं के वातावरण का पूरे परिवार पर बुरा असर पड़ता है, बच्चे बिगड़ जाते हैं और विसंगत कार्यों में लग जाते हैं। वैवाहिक समस्याओं का बुरा असर समाज और सामाजिक प्रस्थिति पर भी पड़ता है। संबंधित परिवार समाज से अलग-थलग पड़ जाता है, मित्रों के व्यवहार परिवर्तित हो जाते हैं। तलाक के कारण आर्थिक

तंगी संबंधित समस्या भी उत्पन्न होती है। यह समस्या खासकर महिलाओं के लिए ज़्यादा गंभीर होती है। उनका भरण-पोषण करना दुष्कर हो जाता है, संतान के जीवन स्तर में गिरावट आने लगती है। इससे बच्चों का सामाजीकरण पूर्णरूपेण बाधित हो जाता है।

4.4 आर्थिक समस्याएँ

परिवार को सदस्यों के भरण-पोषण, बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तथा उन्हें सुरक्षा व संतुष्टि मुहैया कराने के लिए धन की आवश्यकता पड़ती है। संसाधनों को चिन्हित किया जाता है, संकलित किया जाता है, उत्पन्न किया जाता है और पारिवारिक सदस्यों के मध्य वितरित कर दिया जाता है। परिवार की संपूर्ण व्यवस्था प्रेम, सहयोग, परोपकार से संचालित है और व्यवस्था सुचारू रूप से चल सके इसके लिए धन की आवश्यकता होती है। बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिएतो धन अत्यंत आवश्यक है ही, इसके अलावा अन्य आवश्यकताओं के लिए भी धन की पर्याप्तता आवश्यक होती है। यदि कोई सदस्य बीमार है अथवा किसी को शिक्षा हेतु अधिक धन की आवश्यकता है अथवा किसी सदस्य को व्यापार में धन की आवश्यकता है तो यहाँ परिवार को विवेकशीलता और ईमानदारी का परिचय देना होता है तथा धन का वितरण सावधानीपूर्वक करना होता है, परंतु यदि धन ही अपर्याप्त हो तो परिवार में समस्याएँ उत्पन्न होने लगती हैं। इससे चिंता, क्रोध, वैमनस्यता, द्वेष, विरोध, खराब स्वास्थ्य आदि समस्या पनपने लगती है।

भारत की लगभग 42 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन करती है। इन परिवारों के पास इतने संसाधन नहीं होते हैं कि सभी सदस्य दिन में तीन बार भर पेट भोजन कर सकें। बच्चों की शिक्षा में कई बाधाओं का सामना करना पड़ता है। युवा सदस्यों के लिए रोज़गार प्राप्त करना किसी चुनौती से कम नहीं होता है। पीढ़ी दर पीढ़ी निरक्षरता के कारण बेहतर रोज़गार को प्राप्त करना अथवा उसकी कामना करना पूर्ण रूप से अव्यावहारिक प्रतीत होता है। बाल श्रम, बंधुआमज़दूर, महिलाओं का सेक्स कार्यों में संलिप्त होना, भिक्षावृत्ति आदि प्रकार की समस्याएँ देखने को मिलती हैं। इसके अलावा रोज़गार की तलाश में दूसरे स्थानों को पलायन भी करना पड़ता है। सामान्यतः पुरुष रोज़गार की तलाश में घर से दूर जाते हैं और महिलाएं घर-गृहस्थी को संभालती हैं और कभी कभी पति-पत्नी और उनके बच्चे पलायन कर जाते हैं और वृद्ध माता-पिता को उनके हाल पर छोड़ देते हैं। लोग अन्य स्थानों पर जाकर मलिन बस्तियों, झुग्गी-झोपड़ियों में रहने को विवश होते हैं और गंदगी के कारण उनका स्वास्थ्य प्रभावित होता है। आवश्यकताओं की पूर्ति न हो पाने के कारण व्यक्ति समाज विरोधीगतिविधियों में संलग्न हो जाता है और नशाखोरी, वेश्यावृत्ति आदि समस्याओं से घिर जाता है।

पलायन करने और विविध समस्याओं के बावजूद यह निश्चित नहीं होता है कि रोज़गार प्राप्त होगा अथवा नहीं। पारिवारिक सदस्यों के बेरोज़गार होने के कारण पूरे परिवार में मनोवैज्ञानिक संकट का वातावरण बना रहता है। यदि परिवार में कोई सदस्य बेरोज़गार हो तो उसे परिवार में उचित स्नेह और प्रतिष्ठा नहीं

प्राप्त होती है। उसे सदैव तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाता है, ताने मारे जाते हैं, उसे नीचा दिखाने का प्रयास किया जाता है। फलतः वह समाज विरोधी गतिविधियों में लग जाता है तथा इन कारणों से भी सदस्यों का स्वास्थ्य प्रभावित होता है। बदलते परिवेश में कम व्यावसायिक अवसर होने के कारण चारों ओर तनाव का माहौल बना हुआ है। दोहरी कमाई वाले परिवारों की स्थिति आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ होती है, परंतु पति-पत्नी न तो एक दूसरे को पर्याप्त समय दे पाते हैं न परिवार को और न ही बच्चों को। इससे भी कई सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

4.5 शारीरिक समस्याएँ

बुढ़ापा प्राकृतिक और स्वाभाविक शारीरिक समस्या है, जिससे सभी का रूबरू होना निश्चित है। औद्योगिक क्षेत्र में विकास हो जाने के कारण जीवन प्रत्याशा दर में वृद्धि हुई है और व्यक्ति की मृत्यु दर में गिरावट आई है। इस कारण समाज में वृद्धों के अनुपात में वृद्धि हुई है। पहले के समय में वृद्धजनों को परिवार का मुखिया माना जाता था और प्रायः सभी निर्णयों में उनकी भागीदारी आवश्यक रहती थी, परंतु वर्तमान समय में वृद्धों को अधिक महत्व नहीं दिया जाता है। शहरीकरण और औद्योगीकरण के कारण पारिवारिक संरचना में काफ़ी परिवर्तन हुए हैं और नाभिकीय परिवारों का चलन तेज़ हो गया है। इन परिवारों में वृद्धजनों की देखभाल करना एक विकट समस्या बनती चला जा रहा है। इसके अलावा सामान्य तौर पर वृद्ध व्यक्ति शारीरिक दुर्बलता के कारण अनेक बीमारियों से ग्रसित हो जाता है। संवेदनशील क्षमता का ह्रास (कमज़ोर दृष्टि, कम सुनाई देना, चलने में परेशानी होना आदि), विभिन्न बीमारियों से ग्रस्त होना (मधुमेह, जोड़ों का दर्द, श्वसन समस्या, पाचन संबंधी समस्याएँ) आदि परेशानियों के कारण वृद्धजनों की सेवा करना दुष्कर हो जाता है। आधुनिक समय में लोगों के पास समय की कमी होती है , जिसके कारण इन पर पर्याप्त ध्यान दे पाना मुश्किल होता है। यदि वृद्ध कोई महिला है तो उसे कहीं अधिक परेशानियों का सामना करना पड़ता है। ऐसा इसलिए, क्योंकि हमेशा से पितृसत्तात्मक व्यवस्था होने के कारण उसे किसी-न-किसी पुरुष के अधीन रहने के लिए बाध्य किया गया होता है। निर्धनता, अशिक्षा, सामाजिक कुशलता की कमी, लंबा कुपोषण, गरीबी आदि के कारण महिलाओं का जीवन अनेक समस्याओं से भरा होता है। पारंपरिक समय में वृद्धजनों के पास पारिवारिक संपत्ति और आय के अधिकार सुरक्षित रहते थे, परंतु वर्तमान समय में कई पारिवारिक भूमिकाओं को उनसे छीन लिया गया है।

वृद्धावस्था के अलावा यदि परिवार का कोई सदस्य लंबे समय से किसी गंभीर बीमारी अथवाअपंगता से त्रस्त है तो उन परिवारों में भी कुछ इसी प्रकार की समस्याएँ आती है। कई बार यदि कमाने वाला व्यक्ति ही पीड़ित हो जाता है तो संपूर्ण परिवार वित्तीय संकट और गरीबी से जूझने लगता है जिससे परिवार की स्थिति अत्यंत खराब हो जाती है। इसके अलावा बीमारी लंबे समय से होने के कारण सदस्यों का ध्यान धीरे-धीरे कम होने लगता है और वे उस व्यक्ति से ऊबने लगते हैं। इसके अलावा पारिवारिक वातावरण

नीरस और उदासपूर्ण होने लगता है, मनोरंजन में रूचि समाप्त हो जाती है। लंबी बीमारी के कारण चिड़चिड़ापन, क्रोध, कुंठा आदि प्रकार की भावनाएँ व्यक्त होने लगती हैं, इस कारण से भी पारिवारिक वातावरण दूषित होने लगता है। बीमारी के निवारण में भी समय और धन का काफ़ी व्यय हो जाने से भी परिवार की स्थिति खराब होने लगती है।

मृत्यु एक शाश्वत घटना है। परिवार में किसी की मृत्यु तनावपूर्ण वातावरण को उत्पन्नकरती है। किसी प्रिय की मृत्यु पर लोगों को विविध प्रकार की भावनाओं का सामना करना पड़ता है यथा- असमंजस, अविश्वास, क्रोध, ग्लानि, निराशा, उदासी, सदमा आदि।

4.6 हिंसा और दुर्व्यवहार

परिवार की व्याख्या स्नेह, प्रेम, सहयोग, परोपकार, आत्मीयता जैसे भावों के संदर्भ में की जाती है। तथापि परिवार में शोषण, हिंसा, दुर्व्यवहार, उपेक्षा आदि भी निहित रहने वाले भाव होते हैं और इन्हें नज़रंदाज़ नहीं किया जा सकता है। पारंपरिक समय में भी महिलाओं और बच्चों को हिंसा और दुर्व्यवहार का शिकार होना पड़ता था। महिलाओं को तो आरंभ से ही पुरुषों के अधीन रहने की शिक्षा दी जाती है। इस संबंध में किए गए कई शोधों से यह पता चलता है कि घरेलू हिंसा से पीड़ित होने के बावजूद महिलाएं कभी पुलिस, महिला आयोग अथवा किसी अन्य मदद का प्रयास नहीं करती हैं। ऐसा इसलिए हैं, क्योंकि पति द्वारा मारा-पीटा जाना, धक्का देना आदि अवधारणात्मक तौर पर हिंसा नहीं माना जाता है, यह एक सामान्य घटना है। अधिकतर महिलाएं समाज में बदनामी के डर से हिंसा की घटनाओं को छिपाती हैं। पारंपरिक धार्मिक साहित्यों में भी महिलाओं के विरुद्ध की जाने वाली हिंसा को असामाजिक नहीं माना है। इसी तरह से बच्चों को भी मारना, गाली देना, धक्का देना,भोजन न देना आदि अनुशासन में रखने के तरीकों में माने जाते हैं। बहुत से परिजन तो यह मानते हैं कि यदि बच्चे को मारा-पीटा न जाए, तो वे बिगड़ जाते हैं और सदैव के लिए असामाजिक व्यवहार करने लगते हैं। कुछ इसी प्रकार का रवैया शिक्षकों का भी होता है। वे बच्चों को मार-पीट कर शिक्षित करने में विश्वास करते हैं।

4.7 सारांश

इस इकाई के माध्यम से पारिवारिक व्यवस्था में समकालीन समस्याओं के बारे में क्विरण प्रस्तुत किया गया है। परिवार व्यवस्था में पारिवारिक समस्याएँ, शारीरिक समस्याएँ, आर्थिक समस्याएँ, हिंसा और दुर्व्यवहार आदि प्रकार की प्रमुख समस्याएँ निहित रहती हैं। इनके बारे में भी इस इकाई में विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

4.8 बोध प्रश्न

प्रश्न 1: पारिवारिक विघटन के कारकों को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2: वैवाहिक समस्याओं पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 3: पारिवारिक व्यवस्था की आर्थिक समस्याओं के बारे में विवेचन प्रस्तुत कीजिए।

प्रश्न 4: परिवार में होने वाली आधुनिक शारीरिक समस्याओं का उल्लेख कीजिए।

4.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

एसीर्वाथम, ई. (1942). *अ न्यू सोशल ऑर्डर.* चेन्नई: इंडियन क्रिश्चियन बुक।

रॉय, पी.के.(2000). *द इंडियन फैमिली.* चेंज एंड पर्सपेक्टिव, नई दिल्ली: ज्ञान पब्लिशिंग हाउस।

पटेल, टी. (2005). *द फैमिली इन इंडिया.* नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशन्स।

इलिस, एच. (1922). *लिटिल एस्सेज ऑफ लव एंड वर्च्यु.* न्यूयॉर्क: फ्रीडोनिया बुक्स।

ज्ञान शांति मैत्री

खंड - 4

समकालीन संकल्पनाएं

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई 1

राजनीतिक विचारों का विकास: राष्ट्र-राज्य का उदय एवं राष्ट्रवाद

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 राष्ट्र की संकल्पना और अर्थ
1.3 राष्ट्र-राज्य के मूलतत्व
1.4 राष्ट्र-राज्य का उदय और विकास
1.5 राष्ट्रवाद की संकल्पना और अर्थ
1.6 राष्ट्रवाद का निर्माण करने वाले तत्व
1.7 राष्ट्रवाद का उदय और विकास
1.8 सारांश
1.9 बोध प्रश्न
1.10 संदर्भ एवं उपयोगीग्रंथ

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको निम्न बिंदु ओंमें सक्षम बनाना है –

- राष्ट्र की संकल्पना, अर्थ और उसके मूलतत्वों को समझ पाने में।
- राष्ट्र-राज्य के उदय और विकास को जान पाने में।
- राष्ट्रवाद की संकल्पना, अर्थ और उसके निर्माणक तत्वों के बारे में समझ विकसित कर पाने में ।
- राष्ट्रवाद के उदय और विकास का वर्णन करने में।

1.1 प्रस्तावना

राष्ट्र एक विशिष्ट प्रकार का समुदाय होता है, एक ऐसा समुदाय होता है जो किंचित सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयासरत रहता है। समुदाय को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए राष्ट्रराज्य एक शासन व्यवस्था का निर्धारण करता है और अपनी शक्ति और सत्ता के आधार पर व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करता है। राष्ट्रवाद एक प्रकार की भावना होती है जो भावनात्मक एकता से फलित होती है और राष्ट्र-राज्य के निर्माण में सहायक सिद्ध होती है।

1.2 राज्य की संकल्पना और अर्थ

राष्ट्र, अंग्रेजी शब्द 'स्टेट' का हिंदी रूपांतरण है और यह शब्द लैटिन भाषा के 'स्टेट्स' से बना है, जिसका तात्पर्य 'स्तर' अथवा 'स्थिति' अथवा 'किसी तथ्य का होना' होता है। मूल रूप से राज्य उस संगठित इकाई को कहते हैं जो एक शासन अथवा सरकार के अधीन हो। राज्य संप्रभुता संपन्न हो सकते हैं। इसके अलावा किसी शासकीय इकाई या उसके किसी प्रभाग को भी राज्य की संज्ञा दी जाती है। **मैकियावली** ने सबसे पहले 16वीं शताब्दी के आरंभ में स्टेट (राष्ट्र) शब्द का प्रयोग किया और उसके अनुसार यह एक ऐसी शक्ति है जो मनुष्य के ऊपर सत्ता स्थापित करती है। **मैक्स वेबर** ने राज्य की संवैधानिक परिभाषा प्रस्तुत की। उनके अनुसार, *"राज्य एक प्रकार का मानव समुदाय है जो निर्दिष्ट भू-भाग में भौतिक बल के विधिसम्मत प्रयोग के एकाधिकार का दावा रखता है।"*

मैकाइवर और **पेज** के अनुसार, *"राज्य को अन्य सभी संस्थाओं से इस आधार पर अलग पहचाना जा सकता है कि केवल इसी में बल-प्रयोग की अंतिम शक्ति निहित है।"*

थॉमस हाब्स के अनुसार, *"मनुष्यों की अपनी स्वयं की रक्षा तथा इसके द्वारा एक अत्यधिक संतुष्ट जीवन जीने की दूरदर्शिता ही राज्य की उत्पत्ति का अंतिम कारण है।"*

ग्रीन कहते हैं, *"राज्य लोगों का वह समूह है जो एक-दूसरे को उनके पास निहित अधिकारों के कारण पहचान देते हैं तथा जो उन अधिकारों की रक्षा व उन्हें बनाए रखने के लिए संस्थाओं की व्यवस्था करते हैं।"*

जॉन हाफमैन तथा **पॉल ग्राह्य** ने राष्ट्र राज्य के निम्न लक्षणों का उल्लेख किया है–

1. राज्य एक सार्वजनिक संस्था है, , जिसकी प्रकृति समाज की अनेक निजी गतिविधियों से अलग होती है।
2. राज्य अपने क्षेत्र के निवासियों पर कानून लागू करता है और उन पर उसे मानने हेतु शक्ति का प्रयोग करता है।
3. राज्य के पास ही संप्रभुता होती है और यह सरकार द्वारा संचालित होती है।
4. राज्य अपने अधीन जनता से कर जुटाने की क्षमता रखता है।
5. राज्य के कर्मचारियों की नियुक्ति उनके कौशल और योग्यता के आधार पर होती है।

राष्ट्र राज्य को उससे संबंधित अनेक संकल्पनाओं से पृथक रखना चाहिए। राज्य सरकार नहीं होता है सरकार तो मात्र राज्य की वास्तविकता का ठोस रूप होती है। यह प्रभु सत्ता संपन्न होती है भले ही उसकी संप्रभुता का इस्तेमाल सरकार द्वारा हो। राज्य न ही समाज है और न ही जन-समुदाय, राज्य तो एक कानूनी संस्था है।

1.3 राष्ट्र **राज्य के मूलतत्व**

जब राज्य को एक विशिष्ट संगठन के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है तब यह आवश्यक होता है कि उसके मूलतत्वों के बारे में विवेचना की जाए–

जनसंख्या

किसी भी संस्था के लिए मूल तत्व मनुष्यों का समूह होता है। राज्य एक ऐसी संस्था है, जिसमें अनेक मनुष्य एकता के सूत्र में बंधे हुए होते हैं। राज्य में जनसंख्या की कोई नियत संख्या नहीं निर्धारित है परंतु इसमें उतनी जनसंख्या निहित होनी चाहिए जो जीवन के विविध पक्षों की देख-रेख कर सके। किसी भी राज्य की जनसंख्या के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह एक ही जाति, धर्म, भाषा, संप्रदाय या संस्कृति से संबंधित हो, परंतु एक ही राज्य से संबंधित होने के कारण उनकी निष्ठा का केंद्र एक ही होना आवश्यक है।

भू-भाग

राज्य के अस्तित्व के लिए आवश्यक है कि उसका एक निश्चित भू-भाग हो , जिसमें उसकी जनसंख्या निवास करती हो और इससे उसकी सत्ता निर्विवाद रूप से स्थापित हो सकती है। यदि किसी एक भू-भाग पर एक से अधिक राज्य अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते हैं तो उसके लिए उनके या तो संघर्ष होता है अथवा समझौता, क्योंकि किसी राज्य के दूसरे राज्य के भूभाग में रहने कि कोई गुंजाइश नहीं होती। जनसंख्या के ही समान किसी राज्य के भू-भाग की कोई निश्चित रूपरेखा तैयार नहीं की जा सकती कि वह भू-भाग आकार में कितना बड़ा होना चाहिए। वह भू-भाग इतना विस्तृत होना चाहिए जीतने में राज्य की पूरी जनसंख्या कम से कम वित्तीय रूप से आत्मनिर्भर जीवन व्यतीत कर सके।

सरकार

उक्त वर्णित राज्य के दो मूलतत्वों को प्रबंधकीय ढंग से सुचारु रूप से संचालित रखने के लिए सरकार की आवश्यकता होती है जो राज्य की सेवाओं को जनसंख्या तकपहुंचा सके, राज्य के भू-भाग की सुरक्षा कर सके, राज्य के भीता व्यवस्था और नैतिकता बनाए रखे, अन्य राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार बनाए रखे और वित्तीय प्रबंधन को बनाए रखे। समकालीन परिप्रेक्ष्य में सरकार द्वारा जनता के लिए विविध प्रकार के कार्य किए जाते हैं, यथा– शिक्षा, आवास, स्वास्थ्य, रोज़गार, संचार, मनोरंजन, परिवहन आदि। इन अनेक प्रकार के प्रबंधन के कारण ही आज अराज्य से संबंधित एक नयी संकल्पना का जन्म हुआ है 'कल्याणकारी राज्य'।

प्रभुसत्ता

उक्त वर्णित सरकार द्वारा कार्य (नियंत्रण, प्रबंधन, संचालन आदि) सुचारु रूप से क्रियान्वित होने के लिए एक प्रकार की शक्ति अथवा सत्ता की आवश्यकता होती है जो कि वैधानिक हो, प्रभुसत्ता वही शक्ति है। यह वह शक्ति है , जिसकी सहायता से राज्य अपने भू-भाग पर अवस्थित जनसंख्या से अपने आदेशों,

क़ानूनों आदि का पालन करा सके और क्षेत्र में सौहार्दपूर्ण वातावरण बनाए रख सके। अन्य संस्थाएं आवश्यकता पर आधारित होती हैं और उनकी सदस्यता ऐच्छिक होती है, परंतु राज्य एक ऐसी संस्था है, जिसकी सदस्यता अनिवार्य होती है और उसके नियमों की अवहेलना करने पर दंडित होने का भय रहता है।

1.4 राष्ट्र-राज्य का उदय और विकास

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में राज्य और राष्ट्र प्रायः एक से हो गए हैं। राज्य की सीमाओं को राष्ट्र की सीमाएं माना जा रहा है, राज्य के हित को राष्ट्र-हित का संबोधित किया जा रहा है और विभिन्न राज्यों के संबंधों को अंतरराष्ट्रीय संबंध की संज्ञादी जा रही है। राष्ट्र-राज्य में वहाँ के भू-भाग पर निवास करते सभी लोग आ जाते हैं (चाहे वे किसी भी जाति, धर्म, भाषा, संप्रदाय अथवा संकृति से संबंधित हों) जो एक केंद्रीय सत्ता के प्रति निष्ठावान हों और एक सामान्य हित, सामान्य इतिहास और सामान्य जीवन के प्रति सजग हों। राष्ट्र-राज्य के विकास को निम्न अवस्थाओं के माध्यम से अभिव्यक्त किया जा सकता है-

कबीला राज्य

राज्य के आदिम स्वरूप छोटे-छोटे कबीले हुआ करते थे और उसमें एक सरदार होता था, जिसकी सत्ता को उस क्षेत्र के सभी लोगों द्वारा मान्य होती थी। ये कबीले स्वजन समूहों पर आधारित होते थे और सरदार की सहायता हेतु परामर्श सभा का प्रचलन था। ये कबीले जाती, धर्म, आर्थिक हितों के आधार पर संगठित होकर रहा करते थे और शत्रुओं से मुक़ाबला करते थे। आस्ट्रेलिया के आदिवासी कबीलों में इस प्रकार के संगठन देखने को मिलते हैं। कुछ इस प्रकार के भी कबीले थे जो खानाबदोशी जीवन व्यतीत किया करते थे, जिन्हें राज्य की परिधि में नहीं लिया जा सकता।

पूर्वी साम्राज्य

जब नील नदी, गंगा नदी आदि घाटियों में प्रारंभिक सभ्यता का विकास हुआ तो वह इस प्रकार के शहरों का निर्माण हुआ। इन स्तनों पर भिन्न-भिन्न स्वजन समूहों के लोग आकार मिलने लगे और इन्होंने युद्ध कला में निपुणता प्राप्त करके अन्य क्षेत्रों को अपने अधीन कर लिया। इस श्रेणी में प्राचीन मिश्र, भारत, चीन, सीरिया के साम्राज्य आते हैं।

यूनानी नगर-राज्य

पर्वतों, घने जंगलों और समुद्रों ने भूमि को अनेक भागों में बांट दिया था जिनमें शासन करना अपेक्षाकृत सरल था और यही इस प्रकार के राज्यों का उदय हुआ। यहा छोटे-छोटे नगर-राज्य होने के कारण शक्तिशाली निर्विवाद शासन क्रियाशील नहीं हो पाये और ये मिल-जुलकर शासन करते थे।

रोमन साम्राज्य

जब आंतरिक संघर्ष और आक्रमणों से यूनानी राज्य नष्ट हो गए तब यूरोप में रोम की सभ्यता का उदय होता है। पर्वतीय लोगों पर आधिपत्य स्थापित करके रोमन लोगों ने उन्हें अपने साथ मिला लिया और

अलग-अलग धर्मों, जातियों, संस्कृतियों के अनुयायीओं पर एक साथ संयुक्त रूप से शासन करने हेतु एक विस्तृत शासन प्रणाली का विकास हुआ। सम्राट की शक्ति को धर्म की आड़ में एक स्वतंत्र और सर्वशक्तिमान सत्ता के रूप में वैधता दी जाने लगी।

सामंती राज्य

रोमन साम्राज्य के पाटन के पश्चात केंद्रीय सत्ता का लोप हो गया। मध्य काल में सारी शक्तियाँ जमींदारों, सामंतों और जागीरदारों तक ही सिमट कर रह गई। हालांकि छोटे-छोटे राज्यों में राजा की सत्ता ही सर्वोच्च थी, परंतु संपूर्ण शक्ति पर आधिपत्य सामंतों के पास ही होता था। जन साधारण दासों के रूप में जमींदारों के अधीन जीवन-यापन करने लगे। सामंतों, जमींदारों के अलावा कुछ स्थानों पर पोप की सत्ता भी स्थापित थी। 14वीं शताब्दियों तक आते आते पोप, जमींदारों आदि द्वारा अपनी शक्तियों के दुरुपयोग किए जाने के कारण पुनः राजतंत्र का उभार होता है।

आधुनिक राष्ट्र-राज्य

15वीं और 16वीं शताब्दी में यूरोप में सबसे पहले राष्ट्र-राज्यों का उदय हुआ। मनुष्य नवीन आर्थिक संबंधों, राष्ट्रीयता, संस्कृति, भाषा, एकता आदि के विचार के साथ स्थायी समूहों के रूप में संगठित हुए। आरंभ में सत्ता का केंद्र राजा अथवा सम्राट हुआ करता था और सारी शक्तियाँ उसी के पास होती थीं। 18वीं शताब्दी से यूरोप में संवैधानिक शासन का उदय होता है। इंग्लैंड में यह शांतिपूर्ण तरीके से होता है तो वहीं फ्रांस में क्रांति के पश्चात इसका उदय होता है। 18वीं और 19वीं शताब्दी में यूरोप के प्रमुख राष्ट्रों ने राष्ट्रीय-आर्थिक सुदृढ़ता के लिए उपनिवेशवाद को अपनाया और विभिन्न क्षेत्रों को अपने अधीन कर लिया। दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् 20वीं शताब्दी के मध्य में उपनिवेशवाद का पतन होता है। फलस्वरूप कई नए राष्ट्र-राज्यों का उदय हुआ और उन्हें विभिन्न प्रकार की राजनीतिक-आर्थिक विकास की गंभीर समस्याओं से गुजरना पड़ा। उनमें से भारत ही एक मात्र ऐसा राष्ट्रराज्य है, जिसमें लगातार लोकतंत्र की व्यवस्था बनी रही है।

1.5 राष्ट्रवाद की संकल्पना और अर्थ

'राष्ट्रवाद' राजनीतिक चिंतन तथा विचारों से संबंधित अवधारणा है। राष्ट्रवाद एक आधुनिक संकल्पना है। राष्ट्रवाद एक विश्वास, विचारधारा है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने राष्ट्र के साथ अपनी पहचान स्थापित करता है। यह उस ऐतिहासिक प्रक्रिया को प्रतिपादित करता है, जिसके द्वारा राष्ट्रीयताएँ राजनैतिक रूप से संगठित अस्तित्व प्राप्त करती हैं। इस भावना से प्रेरित होकर व्यक्ति एक निश्चित और सशक्त राष्ट्रीयता का निर्धारण करते हैं और यह पूरी प्रक्रिया एक विशिष्ट भू-भाग से संबंध रखती है। राष्ट्रवाद मनुष्य के किसी समूह की उस आस्था को कहा जाता है, जिसके तहत वे ख़ुद को साझा इतिहास, परंपरा, भाषा, जातीयता और संस्कृति के आधार पर संगठित पाते हैं। इससे प्राप्त निष्कर्ष ही उन्हें आत्म-निर्णय के आधार पर अपने राष्ट्र की स्थापना करने की प्रेरणा देता है। राष्ट्रवाद के आधार पर बना राष्ट्र तब तक एक आदर्श लोक

बना रहता है जब तक उसे एक राष्ट्र-राज्य का स्वरूप नहीं मिल जाता। राष्ट्रवाद मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्तियों में से एक नहीं है, वह कई प्रवृत्तियों का परिणाम है। मनुष्य कई लोगों के साथ समूह में रहना चाहता है, वह उनके साथ सहयोग करता है, संघर्ष करता है और सदैव अपनी आत्मरक्षा के लिए तत्पर रहता है। यदि सामान्यता में व्यक्त करें तो ये सारी प्रवृत्तियाँ राष्ट्रवाद के अंतर्गत निहित होती हैं।

राष्ट्रवाद के कई स्वरूप होते हैं, ये स्वरूप स्थान विशेष के आधार पर होते हैं, यथा– जर्मनी का राष्ट्रवाद जातीयता से संबंधित है, इंग्लैंड और अमेरिका का राष्ट्रवाद सामाजिक उद्देश्यों, राज्य और संविधान के प्रति निष्ठा से संबंधित है, अरब देशों का राष्ट्रवाद अरब एकता से संबंधित है, पाकिस्तान का राष्ट्रवाद काफ़ी हद तक मुस्लिम धर्म के समन्वय से संबंधित है और भारत का राष्ट्रवाद (स्वतंत्रता पूर्व) विदेशी शासन से मुक्ति से संबंधित था। स्वतंत्रता के पश्चात यह देश की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक उन्नति से संबंधित हो गया। अतः उक्त वर्णित राष्ट्रवाद की भावनात्मक यात्रा से यह बात तो स्पष्ट है कि राष्ट्रवाद का अभिप्राय स्थान, परिस्थिति और समूह विशेष के सापेक्ष निर्धारित होता है और परिवर्तित होता है।

1.6 राष्ट्रवाद का निर्माण करने वाले तत्व

राष्ट्रवाद एक प्रकार की भावनात्मक चेतना है जो कई कारकों से मिलकर बनती है। इसके मुख्य तत्व निम्न प्रस्तुत हैं–

भौगोलिक एकता

राष्ट्रवादी भावना के निर्णायक तत्वों में से भौगोलिक एकता का सरोकार काफ़ी महत्वपूर्ण है। एक क्षेत्र विशेष में निवास करने के कारण जनसमूह की संस्कृति में एकरूपता का समावेश होता है और साथ-ही-साथ उनकी संवेदनाएँ भी एक दूसरे के प्रति जागृत होती हैं। पशुओं की ही भांति मनुष्यों में भी अपने आवास स्थान के प्रति स्नेह की भावना पाई जाती है। साहित्यिक शब्दावली में कई ऐसे शब्द मिलते हैं जो राष्ट्रवाद के प्रति प्रेम की भावना को मुखर करते हैं, यथा– जन्मभूमि, मातृभूमि, पितृभूमि, गृहदेश, स्वदेश आदि।

जातीय एकता

जातीय एकता भी राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यदि एक जनसमूह किसी एक ही जाति अथवा नस्ल का हो तो स्वाभाविक है कि उसमें एक दूसरे के प्रति सहयोग, प्रेम की भावना अधिक होगी। हालांकि कुछ विद्वान इस बात पर भी जोर देते हैं कि केवल जाति ही राष्ट्रवाद का निर्माण नहीं कर सकती। हमारे पास कई उदाहरण हैं जहां जाति की संकल्पना नहीं है, परंतु फिर भी वहाँ राष्ट्रवाद की भावना है। हालांकि जाति जैसे महत्वपूर्ण तत्व को यूं ही नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। हम यह जानते हैं कि हिटलर के शासन काल में जातिवाद ने ही इतने बड़े पैमाने पर नरसंहार कराया था और इसके पीछे राष्ट्रवाद की प्रबल भावना थी।

भाषात्मक एकता

रैम्जे म्योर का मानना है कि राष्ट्र के निर्माण में जाति की अपेक्षाकृत भाषा अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। सामान्य भाषा से आशय सामान्य साहित्य, वैचारिक सामान्यता, गीतों और लोककथाओं की सामान्यता से है जो राष्ट्रवाद की भावना के सृजन में महत्वपूर्ण शक्ति है। सामान्य भाषा होने की निम्नलिखित उपयोगिताएँ होती हैं–

1. यह जनसमूह में राष्ट्रीय समैक्य की भावना को उत्पन्न करती है और साथ-ही-साथ उसे प्रबल बनाने में योगदान देती है।
2. यह सामान्य ऐतिहासिक परंपराओं को जीवंत रखती है।
3. इसके कारण व्यक्ति द्वारा एक से विचारों और भावों की अभिव्यक्ति की जा सकती है।
4. एक भाषा के होने से आचार-विचार, व्यवहार, साहित्य और न्याय के सामान्य मानकों को निर्धारित किया जाता है।

धार्मिक एकता

राष्ट्र-राज्य के विकास से के बात तो स्पष्ट है कि उसके निर्माण में धर्म का कितना अहम योगदान है। प्रारंभिक समय में सभी मूल्य, नियम, रीति-रिवाजों के आधार पर ही शासन व्यवस्था संचालित होती थी और इन मूल्यों और नियमों को धार्मिक संहिताओं के माध्यम से बनाया जाता था। हालांकि धर्म का राष्ट्र राज्य के निर्धारण में महत्वपूर्ण योगदान रहा है, परंतु आज ये विचार प्राचीन काल की तरह स्थायी और दृढ़ नहीं रहे। आज राज्य के अंदर निवासरत सभी नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त है और राज्य, धर्म के आधार पर नागरिकों के साथ भेदभाव पूर्ण व्यवहार नहीं करता है।

सांस्कृतिक एकता

सांस्कृतिक एकता सामान्य संस्कृति अथवा विचारों व आदर्शों की सामान्यता से पनपती है। सामान्य संस्कृति का आशय समान विचार, रीति-रिवाज, परंपराएँ, एक जैसा इतिहास, साहित्य और जीवन दर्शन आदि से है। यदि लोगों के दृष्टिकोण और जीवन दर्शन में काफ़ी अंतर हो तो उनके मध्य राष्ट्रवाद की भावना का संचार करना दुष्कर होगा।

कठोर और विदेशी शासन के प्रति सामान्य चेतना

इस तत्व को उदाहरण से आसानी से समझा जा सकता है। भारत में लगभग 150 वर्षों तक ब्रिटिश शासन रहा। इसने भारतीयों में राष्ट्रवाद के पुट को अंकुरित किया। उसी प्रकार हिटलर के शासन में जर्मन और मुसोलिनी के शासन में इटालियन राष्ट्रवाद की भावना का उभर हुआ। कभी-कभी दमन के फलस्वरूप भी राष्ट्रवाद की भावना प्रबल होती है, यथा- नेपोलियन की दमनकारी नीति ने स्पेन में राष्ट्रवाद की भावना को जन्म दिया।

1.7 राष्ट्रवाद का उदय और विकास

यद्यपि राष्ट्रवाद की भावना पुरातन है तथापि यह एक आधुनिक सिद्धांत है। राष्ट्रवाद के उदय और विकास का एक लंबा इतिहास रहा है। आरंभ में लोग कबीलों में रहा करते थे। इन कबीलों के आचार-विचार, धर्म, व्यवहार, रीति-रिवाज प्रायः एक दूसरे से भिन्न हुआ करते थे और यह भिन्नता ही उनमें अन्य कबीलों से अलग और स्वयं में एकता के बीज को प्रत्यारोपित करती थी।

प्राचीन यूनान

कबीलाई समाज ने प्राचीन यूनानी समाज के रूप में राजनैतिक रूप अख़्तियार किया। ये नगर-राज्यों में निवास करते थे। जैसा की इस इकाई में पहले भी बताया जा चुका है कि वे कई छोटे छोटे पर्वतीय प्रदेशों में रहते थे। कई समूहों में होने के कारण उनके व्यवहारों में भी अनेक विभिन्नताएँ थीं जो उनके एकत्व बीज का अंकुरण करती थीं।

रोम साम्राज्य

आरंभ में यूनानी समाज और रोम में काफ़ी समानताएँ थीं और वे भी कई समूहों में बंटे हुए थे परंतु बाद में रोम ने साम्राज्य का रूप धारण कर लिया। रोमन साम्राज्य में सांस्कृतिक विविधता काफ़ी मात्र में होने के कारण एक सार्वभौमिक शासन नीति को निर्मित किया गया, परंतु इस नीति से भी उनमें स्पष्ट तौर पर राष्ट्रवाद की भावना को तूल नहीं मिली।

मध्य युग

यह युग भी राष्ट्रवाद की भावना को उजागर कर पाने में असमर्थ साबित होता है। यह युग जमींदारों, सामंतों, जागीरदारों और पोप के शक्तिशाली सत्ता के अधीन रहा और इस युग का इतिहास वर्चस्व के संघर्ष तक ही सिमट कर रह गया।

नवजागरण और धर्म सुधार आंदोलन

इन दोनों आंदोलनों ने चर्च की सत्ता का पुरजोर विरोध किया और उसकी सत्ता को नष्ट करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। यद्यपि इन आंदोलनों के फलस्वरूप कई प्रकार के संघर्ष (कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट के विवाद) और हिंसाएँ हुई तथापि इन आंदोलनों ने आधुनिक राष्ट्रराज्य के मार्ग को निर्मित किया।

अमेरिका और फ्रांस की क्रांतियाँ

18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक आते-आते शासकों और शासितों के मध्य असंतोष की बड़ी सी खाई बन चुकी थी और अब शासक राष्ट्रीय आदर्श, भावनाओं और आकांक्षाओं के प्रतीक नहीं रह चुके थे। इसी काल में अमेरिका और फ्रांस की क्रांति ने और नेपोलियन के युद्धों ने राष्ट्रवाद की भावना के अभ्युदय को दिशा प्रदान की।

आधुनिक राष्ट्रवाद

20वीं शताब्दी में कई राज्यों ने राष्ट्रवाद की भावना के परिणामस्वरूप स्वतंत्रता हासिल कर ली। रूस की क्रांति, जर्मनी में नाजीवाद, इटली में फासीवाद राष्ट्रवाद की ही अभिव्यक्ति हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना भी राष्ट्रवाद का ही एक उदाहरण है। भारत में राष्ट्रवाद के उदय हेतु सामाजिक-धार्मिक आंदोलन ज़िम्मेदार हैं , जिसमें प्रार्थना समाज, वेद समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, सत्यशोधक समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी, श्री नारायण गुरु धर्म परिपालन सभा, अहमदिया और अलीगढ़ आंदोलन, सिंह सभा आदि महत्वपूर्ण हैं।

1.8 सारांश

इस इकाई में राष्ट्र राज्य की संकल्पना व उसके मूलतत्व के बारे में वर्णन किया गया और इसके उद्भव और विकास के चरणों को प्रस्तुत किया गया। इसके अलावा राष्ट्रवाद की संकल्पना, उसके निर्धारक तत्व और उसके विकास के दौर को रेखांकित किया गया है।

1.9 बोध प्रश्न

प्रश्न 1: राष्ट्र राज्य की अवधारणा को स्पष्ट कीजिये और इसके मूलतत्वों को बताइये।
प्रश्न 2: राष्ट्र-राज्य के विकास के चरणों का वर्णन प्रस्तुत कीजिये।
प्रश्न 3: राष्ट्रवाद क्या है? साथ ही निर्धारक तत्वों का विवरण दीजिये।
प्रश्न 4: राष्ट्रवाद के उदय को स्पष्ट कीजिये।

1.10 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

गुप्त, व. एवं गुप्त, म. (2005). राजनीतिक विचारधाराएँ: उद्भव और विकास, नई दिल्ली: राधा पब्लिकेशन्स
गाबा, ओ.पी. (2001). राजनीति सिद्धांत की रूपरेखा, नोएडा: मयूर पेपरबैक्स
अरोड़ा, एन.डी. (2011).राजनीति विज्ञान, नई दिल्ली: टाटा मैगरा हिल एजुकेशन प्राइवेट लिमिटेड
बिस्वाल, त. (2016). तुलनात्मक राजनीति, नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड

इकाई 2

राजनीतिक विचारों का विकास: नवउपनिवेशवाद एवं लोकतांत्रिक विमर्श

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 नवउपनिवेशवाद की संकल्पना और अर्थ
2.3 नवउपनिवेशवाद का उदय
2.4 लोकतंत्र की संकल्पना और अर्थ
2.5 लोकतंत्र का उदय और विकास
2.6 लोकतंत्र का औचित्य अथवा गुण
2.7 लोकतंत्र की त्रुटियाँ अथवा अवगुण
2.8 सारांश
2.9 बोध प्रश्न
2.10 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप –

- नवउपनिवेशवाद के अर्थ, संकल्पना एवं उदय की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- लोकतंत्र के अर्थ, संकल्पना एवं उद्भव को रेखांकित कर सकेंगे।
- लोकतंत्र के गुण और अवगुण का विश्लेषण कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

नवउपनिवेशवाद और लोकतंत्र दोनों दो अलग-अलग ध्रुव पर खड़ी संकल्पनाएँ हैं। एक नियंत्रण या आधिपत्य स्थापित करने को महत्व देती है, तो दूसरी नियंत्रण के अधिकार का विकेंद्रण करने पर ज़ोर देती है। इस इकाई में इन दोनों संकल्पनाओं के अर्थ और उदय की दशाओं पर विस्तार से चर्चा की गई है।

2.2 नवउपनिवेशवाद की संकल्पना और अर्थ

नवउपनिवेशवाद उपनिवेशवाद की आधुनिक अवस्था है, जहाँ आधिपत्य खुले रूप में न होकर छिपे तौर पर कायम है। बुद्धिजीवियों और तर्कशास्त्रियों को यह बात स्पष्ट हो गई है कि औपचारिक तौर पर स्वतंत्र

राष्ट्र के नागरिकों की वास्तविक और पूर्ण स्वतंत्रता अभी के लिए कोरी कल्पना है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों और उनके द्वारा नियंत्रित अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं व बाजार, सैनिक व आर्थिक सहायता के माध्यम से और उस राष्ट्र के अभिजात वर्ग की मदद से उसी राष्ट्र पर कब्जा करने की मंशा बनाई जा रही है। अर्थात् स्वतंत्र होने के बावजूद देश की परतंत्रता और परनिर्भरता अभी भी कायम है। उपनिवेशवाद की नई परिभाषा के रूप में इन अप्रत्यक्ष बेड़ियों को विचारकों द्वारा नव उपनिवेशवाद, डॉलर साम्राज्यवाद, आर्थिक साम्राज्यवाद अथवा नवसाम्राज्यवाद की संज्ञा प्राप्त हुई। सार रूप में यही कहा जा सकता हैं कि आज स्वतंत्र राष्ट्रों की स्वतंत्रता की संकल्पना को मात्र आदर्शलोक के रूप में ही देखा जा सकता है, वास्तविकता तो यह है कि उनपर शक्तिशाली राष्ट्रों का नियंत्रण अभी भी बना हुआ है। विकसित राष्ट्रों द्वारा विकासशील राष्ट्रों के आंतरिक मसलों पर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से किए जाने वाले हस्तक्षेप को ही नवउपनिवेशवाद की संज्ञा दी जाती है। नवउपनिवेशवादियों का मानना है कि पूर्व में उपनिवेशवादी शक्तियों ने जो आर्थिक ढाँचा बना रखा था, उनका अब भी उन उपनिवेशों पर नियंत्रण करने में प्रयोग किया जा रहा है।

इस अवधारणा का प्रयोग सर्वप्रथम स्वतंत्र हुए अफ्रीकी देशों के संदर्भ में 20वीं शताब्दी के पाँचवें-छठवें दशक में किया गया है। इस सिद्धांत का प्रथम उपयोग और प्रतिपादक के रूप में घाना के राष्ट्रपति क्वामे एनक्रुमा को मान्यता दी जाती है, उन्होंने 1965 में 'Neo-Colonialism: The Last Stage of Imperialism' नामक किताब की चर्चा की। उनके अनुसार, *"उपनिवेशवाद ने नव उपनिवेशवाद का नवीन स्वरूप धरण कर लिया है। यह साम्राज्यवाद की अंतिम स्थिति है, जैसे साम्राज्यवाद पूंजीवाद की अंतिम स्थिति था।"*

2.3 नवउपनिवेशवाद का उदय

प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध में एक बड़े पैमाने पर जन-धन की हानि हुई और इन दशाओं ने पराधीन राष्ट्रों पर औपनिवेशिक शासन को बनाए रखने हेतु आवश्यक शक्तियों को कमतर कर दिया। वहीं दूसरी ओर स्वतंत्रता आंदोलनों ने भी इनकी शक्ति को तोड़ कर रख दिया, जिसके फलस्वरूप औपनिवेशिक शासन समाप्त हो गया। इसके पश्चात एक नए प्रकार के उपनिवेशवाद की संकल्पना अस्तित्व में आयी जिसे नव उपनिवेशवाद का नाम दिया गया। इसमें विकसित राष्ट्र द्वारा विकासशील और अविकसित राष्ट्रों पर नियंत्रण खासकर आर्थिक नियंत्रण स्थापित किया जा रहा है। इसके उद्भव हेतु कुछ आवश्यक दशाएँ ज़िम्मेदार हैं, जो इस प्रकार हैं–

1. **शासकीय देशों की शक्तियों का ह्रास-** लगातार दो विश्वयुद्धों के कारण शासकीय राष्ट्रों की आर्थिक शक्तियाँ और जन शक्तियाँ भारी मात्रा में प्रभावित हुई और औपनिवेशिक शासन सुचारु रुप से करना दुष्कर होने लगा। 1949 में चीन का साम्यवादी शक्ति के रूप में उभरना, माओ द्वारा

सभी साम्राज्यवादी राष्ट्रों को चुनौती देना और नवोदित राष्ट्रों की स्वतंत्रता ने शासकीय देशों की शक्तियों को नष्ट करने में महत्वपूर्ण भूमिका वहन की है।

2. **स्वतंत्रता आंदोलनों का विकास-** औपनिवेशिक परतंत्रता के विरोध में शनैः शनैः सभी देशों में राजनैतिक चेतना का उभर हुआ और वहाँ स्वतंत्रता आंदोलन होने लगे। इन आंदोलनों के विरोध स्वरूप औपनिवेशिक ताकतों का एक बड़ा हिस्सा समाप्त कर दिया। वहीं दूसरी ओर संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में आत्मनिर्णय के अधिकार को मान्यता दी जा चुकी थी। इन परिस्थितियों ने औपनिवेशिक शासन को तोड़ कर रख दिया और अंततः यह समाप्त हो गया।
3. **आर्थिक संकट में हालिया स्वतंत्र देश-**नवोदित स्वतंत्र देशों की विकसित देशों से आर्थिक मदद की दरकार होने लगी। इसका कारण यह था कि लंबे औपनिवेशिक काल के दौर से गुजरने के पश्चात और उनके संसाधनों का दोहन के पश्चात उनके पास विकास हेतु कुछ भी नहीं बचा था। आर्थिक विकास के हेतु पूंजी, तकनीक, ज्ञान आदि की आवश्यकताओं ने उन्हें विकसित देशों से मदद की ओर उन्मुख किया हैं।
4. **विकसित राष्ट्रों की आर्थिक नीतियाँ-** द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात अमेरिका और रूस के मध्य शीत-युद्ध आरंभ हो गया है और दोनों देशों द्वारा अपनी स्थिति को मजबूत बनाने के लिए नवोदित स्वतंत्र देशों को आर्थिक रूप से अपने नियंत्रण में लिया जाने लगा। इससे संबंधित अनेक प्रकार की आर्थिक नीतियों के क्रियान्वयन के आधार पर राष्ट्रों को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अपने अधीन किया जाने लगा।

उक्त वर्णित सभी दशाओं ने अल्पाधिक रूप से नव उपनिवेशवाद को अपने पाँव फैलाने हेतु परिस्थितियाँ का निर्माण की है।

ज्ञान शांति मैत्री

2.4 लोकतंत्र की संकल्पना और अर्थ

लोकतंत्र अपने आप में एक बहु-आयामी शब्द है। राजनैतिक दृष्टि से लोकतंत्र राज्य व्यवस्था में साझेदारी को महत्व देता है और शोषणमुक्त और समता आधारित समाज के निर्माण पर ज़ोर देता है। लोकतंत्र 'डेमोक्रेसी' शब्द का हिंदी रूपांतरण है और यह शब्द ग्रीक भाषा के 'डेमोस'और 'क्रेटिया' दो शब्दों से मिलकर बना हुआ है, जिसका अर्थ है 'जनता की शक्ति' है। इस ग्रीक शब्द का तात्पर्य है– गरीबों, जनसाधारण तथा सबसे कम समझदारों का शासन। लोकतंत्र शासन की वह प्रणाली को कहते हैं, , जिसमें जनता स्वयं प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिनिधियों द्वारा संपूर्ण जनता के हित के लिए कार्य करती है।

1. **अब्राहम लिंकन** के अनुसार, *"लोकतंत्र, जनता का, जनता के द्वारा और जनता के लिए किया गया शासन है।"*
2. **डायसी** के शब्दों में, *"यह शासन का वह प्रकार है, जिसमें शासक समुदाय संपूर्ण राष्ट्र का अपेक्षाकृत एक बड़ा भाग हो।"*

3. **ब्राइस** के अनुसार, *"लोकतंत्र वह व्यवस्था है, जिसमें राज्य की प्रशासनिक शक्तियाँ किसी वर्ग अथवा किन्हीं वर्गों तक सीमित न रहकर समाज के सभी सदस्यों में निहित होती है।"*
4. **हेरोडोटस** के अनुसार, *"लोकतंत्र सरकार का वह स्वरूप है, जिसमें राज्य की सर्वोच्च सत्ता संपूर्ण समाज के हाथों में हो।"*
5. **सीले** के शब्दों में, *"लोकतंत्र वह शासन है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का एक भाग होता है।"*

डॉ. लाइवली ने लोकतंत्र की निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया है-

1) सभी का शासन होना चाहिए, नीति-निर्धारण, विधेयन, कानून-परिपालन और राजकीय प्रशासन में सभी व्यक्तियों को शामिल होना चाहिए।
2) सामान्य कानून निर्माण तथा नीति-निर्धारण में सभी नागरिक वैयक्तिक रूप से सम्मिलित हों।
3) शासक जनता के प्रतिनिधियों के प्रति ज़िम्मेदार हो।
4) शासकों का चुनाव जनता के द्वारा हो।
5) शासकों का चयन जनता के प्रतिनिधियों के द्वारा हो।
6) शासक का मूल कर्तव्य जनता का हित और वह उनके हितार्थ कार्य करे।

2.5 लोकतंत्र का उदय और विकास

लोकतंत्र के विकास का इतिहास बहुत पुरातन है। हालांकि पश्चिमी समाजों में 17वीं-18वीं शताब्दी में इसका स्वरूप उभरता है। सुमेरियन नगर-राज्यों में लोकतंत्र के कतिपय तत्व परिलक्षित होते हैं और भारतीय समाज में प्राचीन काल में ही लोकतंत्र के तत्व किसी-न-किसी रूप में नजर आते हैं। हालांकि तब लोकतंत्र का स्वरूप विकृत था। मध्यकाल में भी प्रबल लोकतंत्र का अस्तित्व नहीं मिला, यह युग राजनैतिक आस्था, वंशात्मक व्यवस्था और सत्ता पर ईसाइस्रोत के आधिपत्य का था। इस युग के अंत में चर्च के आधिपत्य से राजनीति का उद्धार होता है और कल्याणकारी शासन और अनुबंध पर विचार आरंभ होता है। पश्चिम में धर्म सुधार आंदोलन, पुनर्जागरण और प्रबुद्धता के दौर में लोकतंत्र का वर्तमान स्वरूप विकसित हुआ। अनेक क्रांतियों ने इस बात पर बल दिया कि शासन का अधिकार जनता को होना चाहिए।

2.6 लोकतंत्र का औचित्य अथवा गुण

लोकतंत्र के पक्ष में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं–

1) **शासन में जनसाधारण के सहयोग की आशा-** शासन कार्य की ज़िम्मेदारी कौशलपूर्ण व्यक्ति पर रहती है, परंतु लोकतंत्र में इन कौशलपूर्ण व्यक्तियों के रूप में प्रतिनिधियों का चयन जनता के मत के अनुसार ही होता है। जनता के विश्वास के साथ शासन करना बेहतर प्रणाली को द्योतक है और जनता को भी भागीदारी के भाव से अधिक उत्साहित और सुख की अनुभूति होगी।

2) **सत्ता के दुरुपयोग से छुटकारा-** यदि सत्ता पर किसी एक का आधिपत्य होगा तो निःसंदेह वह उसका उपयोग अपने हित के लिए करेगा और अवश्य ही उसका अपना हित किसी और के लिए अनिष्ट साबित हो सकता है। अर्थात् सत्ताधारी अपनी शक्तियों के दुरुपयोग से जनसाधारण को परेशान और त्रस्त कर सकता हैं। इसके निपटारे के लिए आवश्यक है कि शासन की बागडोर जनता के हाथों में ही हो और यही शासन व्यवस्था लोकतंत्र के नाम से सुविख्यात है। सैद्धांतिक तौर पर लोकतंत्र इस बात को स्वीकार्यना प्रदान करता है, कि उसमें किसी व्यक्ति के मत की अवहेलना नहीं की जाएगी। यद्यपि सभी की इच्छाओं को पूरा कर पाना संभव नहीं है तथापि लोकतंत्र सभी नागरिकों को बराबर महत्व देने की बात करता है। इससे नागरिकों के मनोबल में ऊर्ध्वाधर विकास होता है और वह कुशल और संवेदनशील प्रशासन की कामना करते हैं और उसी दिशा में अपना योगदान करते हैं।
3) **देशभक्ति के भाव का संचरण-** भावनात्मक स्तर पर लोकतंत्र से देशभक्ति की भावना को बल मिलता है। व्यक्ति को इस बात पर भरोसा होता है कि देश में कार्यान्वित शासन से उसका भी सरोकार है और उसका देश के प्रति प्रेम बढ़ जाता है। चूंकि लोकतंत्र में नागरिकों को अपनी बात को शासन तक पहुँचाने का अवसर प्राप्त होता हैं और वे जनमत के आधार पर शासन की दृष्टि को परिवर्तित करने का दम रखते हैं, इस कारण से विरोध और विद्रोह कि संभावनाएं कम ही रह जाती हैं। साथ ही साथ इसी कारणवश जनता की मांग को अधिक समय के लिए लंबित नहीं रखा जा सकता।
4) **परस्पर सद्भावना और सम्मान का विस्तार-** लोकतंत्र में व्यक्ति एक-दूसरे की भावनाओं का सम्मान करना सीखते हैं और उनमें नैतिक स्तर का विकास होता है। इससे नागरिक का चरित्र निर्मित होता है और नागरिक के चारित्रिक विकास से राष्ट्र का चरित्र समृद्ध होता है।
5) **सार्वजनिक मुद्दों पर खुली चर्चा से जन-शिक्षा को प्रोत्साहन-** लोकतंत्रद्वारा ही लोगों में प्रशासनिक प्रश्नों की जानकारी में रुचि जागृत होती है और यह जानकारी उनकी स्वस्थ राय को निर्मित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसी कारणवश चुनाव के पहले और चुनाव के बाद की सभी गतिविधियों के बारे में जनसाधारण की अभिव्यक्ति को प्राप्त करने का पर्याप्त अवसर मिल पाता है।

2.7 लोकतंत्र की त्रुटियाँ अथवा अवगुण

लोकतंत्र के विरोध में निम्न तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं–

1) लोकतंत्र में वैयक्तिक गुण के स्थान पर उनकी संख्या को अधिक महत्व दिया जाता है अर्थात् सभी व्यक्ति के मत की संख्या 1 ही होती है। **कार्लायल** के अनुसार, *"विश्व में एक योग्य व्यक्ति*

के साथ लगभग 9 मूर्ख व्यक्ति होते हैं, अतः सभी को समान राजनीतिक शक्ति देने का परिणाम मूर्खों की सरकार की स्थापना होता है।"

2) लोकतंत्र में किसी भी कार्य को करने हेतु जनमत के रुख की आवश्यकता होती है और उसका संज्ञान कर पाने में काफी समय बीत जाता है। सरकार किसी भी निर्णय को दृढ़तापूर्वक लागू करने से डरती है।
3) यह बहुत खर्चीली शासन प्रणाली है क्योंकि इसमें जनमत के संगठन, चुनाव, प्रचार-प्रसार में करोड़ों रुपये का निरर्थक व्यय होता है।
4) जनसाधारण में राजनैतिक समझ का अभाव होने के कारण जनोत्प्रेरक नेताओं को जनता की भावनाओं से खेलने का पर्याप्त अवसर मिलता है।
5) हालांकि लोकतंत्र को समानता पर आधारित शासन प्रणाली के रूप में माना जाता है, परंतु व्यावहारिक तौर पर वर्तमान संदर्भ में ऐसा नहीं है। आज इसका व्यवसायीकरण हो गया है।

2.8 सारांश

इस इकाई में नवउपनिवेशवाद और लोकतंत्र पर चर्चा की गई है। नवउपनिवेशवाद का तात्पर्य नियंत्रण के नवीन तरीकों द्वारा आधिपत्य स्थापित करना, जो प्रायः विकसित राष्ट्रों द्वारा विकासशील और अविकसित राष्ट्रों पर किया जाता है। लोकतंत्र समता द्वारा परिभाषित शासन पद्धति है, जिसमें शक्ति के केंद्रीकरण के स्थान पर उसके विकेंद्रण को अधिक महत्व दिया जाता है।

2.9 बोध प्रश्न

प्रश्न 1: नवउपनिवेशवाद की संकल्पना और अर्थ को स्पष्ट कीजिए।
प्रश्न 2: नवउपनिवेशवाद के उभार की परिस्थितियों का वर्णन कीजिए।
प्रश्न 3: लोकतंत्र की संकल्पना और विकास पर प्रकाश डालिए।
प्रश्न 4: लोकतंत्र के गुण और अवगुण की विवेचना प्रस्तुत कीजिए।

2.10 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

गाबा, ओ.पी. (2001).*राजनीति सिद्धांत की रूपरेखा.* नोएडा: मयूर पेपरबैक्स

बिस्वाल, त. (2016). *तुलनात्मक राजनीति.* नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड

अरोड़ा, एन.डी. (2011). *राजनीति विज्ञान.* नई दिल्ली: टाटा मैगरा हिल प्राइवेट लिमिटेड

आलम, ज. (2007). *लोकतंत्र के तलबगार?.* नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन

प्रधान, र. (2015). *राज से स्वराज.* दिल्ली: हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

इकाई 3

सामाजिक विचारों का विकास: दुर्खीम,मैक्स वेबर,पारसंस एवं पियरे बोर्डियो

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 इमाइल दुर्खीम: परिचय और कृतियाँ
3.3 इमाइल दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत
3.4 मैक्स वेबर: परिचय और कृतियाँ
3.5 मैक्स वेबर द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत
3.6 टालकाट पारसन्स: परिचय और कृतियाँ
3.7 टालकाट पारसन्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत
3.8 पियरे बोर्डियो: परिचय और कृतियाँ
3.9 पियरे बोर्डियो द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत
3.10 सारांश
3.11 बोध प्रश्न
3.12 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप –

- इमाइल दुर्खीम, मैक्स वेबरद,टालकाट पारसन्स एवं पियरे बोर्डियो की कृतियों और सिद्धांतों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- विचारकों के विचारों को स्पष्ट कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

सामाजिक विचारों की पृष्ठभूमि के सृजन में इन विद्वानों की भूमिका अद्वितीय रही है। इनमें से प्रथम तीन विचारकों (दुर्खीम,वेबर और पारसन्स) को शास्त्रीय विचारक के रूप से जाना जाता है और इन्होंने समाज और इसकी संरचना से संबंधित मूलभूत और महत्वपूर्ण विचारों का प्रतिपादन किया है। वहीं पियरे बोर्डियो उत्तर-आधुनिक विचारक के नाम से जाने जाते हैं और इनके विचार समाज और उसकी समकालीन संरचना को परिभाषित करने के उद्देश्य से महत्वपूर्ण माने जाते हैं।

3.2 इमाइल दुर्खीम: परिचय और कृतियाँ

इमाइल दुर्खीम (1858-1917) का जन्म फ्रांस के एक यहूदी परिवार में हुआ था। दुर्खीम के समय तक फ्रांस की क्रांति (1789), बोनापार्ट के युद्ध, 19वीं शताब्दी की छिट-पुट क्रांतियाँ, नेपोलियन तृतीय का शासन आदि प्रकार के उतार-चढ़ाव भरे परिवर्तन से आहत हो चुका था। दुर्खीम के समय फ्रांस का सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक वातावरण परिवर्तन के चक्र से गुजर रहा था। उस समय एक ओर औद्योगिक विकास और वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण पुरानी मान्यताएँ ध्वस्त हो रही थीं तो दूसरी ओर समाज का एक बड़ा तबका परंपरागत धार्मिक विश्वासों और कल्पना पर आधारित ग्रंथों को ही वास्तविकता का आधार मानने के लिए प्रतिबद्ध था। इन दशाओं के मध्य ही दुर्खीम ने इस बात पर ज़ोर देने का प्रयास किया है कि नैतिकता से इतर धर्म का कोई अस्तित्व नहीं है। नैतिकता सामूहिक जीवन की एक आधारभूत विशेषता है और इसका संबंध समाज की तत्कालीन परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित करके मानव व्यवहारों के नियंत्रण से है, जिससे कि सामाजिक व्यवस्था सुचारु रूप से चल सके।

दुर्खीम की प्रमुख कृतियाँ निम्न हैं-

- The Division ofLabour in Society (1893)
- The Rulesof SociologicalMethod (1895)
- TheSuicide (1897)
- Primitive Classification (With Mauss) (1903)
- The Elementary Formsof ReligiousLife (1912)

दुर्खीम की मृत्यु के पश्चात उनकी पत्नी लुईस ड्रेफस द्वारा प्रकाशित पुस्तकें निम्न हैं

- SociologyofEducation (1922)
- SociologyofPhilosophy (1924)
- Moral Education (1925)

अन्य स्रोतों से प्रकाशित पुस्तकें निम्न हैं–

- The Socialism (1928)
- TheEvolutionof Pedagogy in France (1938)
- The Sociology (1950)
- Montesquieu and Russo (1953)
- Pragmatism and Sociology (1955)
- On Institutional Analysis (1978)

3.3 दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत

यद्यपि दुर्खीम की वैचारिक संरचना को सैद्धांतिक ढांचे में सीमित कर पाना दुष्कर है, परंतु इनकी मूल वैचारिकी के रूप में समाज की वस्तु के रूप में **सामाजिक तथ्य**, विघटनकारी व्यवहार के रूप में **आत्महत्या**, जनसंख्या के घनत्व में वृद्धि से उत्पन्न **श्रम-विभाजन**, टोटम के आधार पर **धर्म की सामाजिक व्याख्या** आदि सिद्धांत शामिल किए जा सकते हैं।

सामाजिक तथ्य

सामाजिक तथ्य का प्रतिपादन दुर्खीम ने अपनी पुस्तक *'The Rules of Sociological Method'* में किया है। सामाजिक तथ्यों का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन करने के लिए दुर्खीम के अनुसार पहला और मौलिक नियम यह हैं कि सामाजिक तथ्य एक वस्तु है और उस पर विचार भी वस्तु के रूप में ही किया जाए। अर्थात् वैज्ञानिक विश्लेषण करने हेतु सामाजिक घटना अथवा समस्या को एक वस्तु के रूप में पक्षपातरहित होकर अवलोकित किया जाए और इस प्रकार से ही यथार्थ को जाना जा सकता है। दुर्खीम ने सामाजिक तथ्य को परिभाषित करते हुए लिखा है,

> *"सामाजिक तथ्य व्यवहार करने, विचार करने व अनुभव करने का वह तरीका है, जो मनुष्य की चेतना के बाहर अवस्थित होता है और उनमें मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित करने की दबावमूलक क्षमता होती है।"*

इस प्रकार सभी नियम, मूल्य-मान्यताएँ, प्रतिमान, भाषा, आर्थिक व्यवस्था आदि सामाजिक तथ्य के उदाहरण हैं। दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों की मूल रूप से दो विशेषताओं का उल्लेख किया है

- पहली विशेषता यह है कि यह व्यक्ति की चेतना और प्रभाव से बाह्य होता है अर्थात् इसमें **बाह्यता** का गुण पाया जाता है।
- दूसरी विशेषता यह है कि सामाजिक तथ्यों में **बाध्यता** का गुण पाया जाता है।

इन दोनों विशेषताओं को एक उदाहरण की सहायता से सरलता से समझा जा सकता है। हिंदीभाषा एक सामाजिक तथ्य है। हिंदी भाषा का अस्तित्व किसी व्यक्ति विशेष, यथा भारतेंदु हरिश्चंद्र अथवा मैथिलीशरण गुप्त के अस्तित्व से पहले से ही है और न ही किसी व्यक्ति विशेष के मर जाने अथवा हिंदी भाषा के त्याग कर देने से इसके अस्तित्व पर कोई संकट आ जाता है। अर्थात् यह व्यक्ति से परे है और इसमें बाह्यता का गुण पाया जाता है। इसी प्रकार यदि हिंदी भाषी समाजों में संचार अथवा वार्तालाप करना है तो उसके लिए माध्यम के रूप में हिंदी भाषा का सहारा लेना पड़ेगा। अतः इसमें बाध्यता का गुण भी पाया जाता है।

दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यके दो प्रकारों की चर्चा की है–

❖ **सामान्य सामाजिक तथ्य** का तात्पर्य उन घटनाओं से है जो लगभग विभिन्न समाजों में निश्चित दर से घटित होती रहती हैं और जिनकी भूमिका समाज को संगठित करने में महत्वपूर्ण होती है। सामान्य सामाजिक तथ्यों को कुछ विशेषताओं के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है–

- सामान्यता (सभी समाजों में विद्यमान)
- निश्चित दर
- संगठनकारी शक्ति
- विशिष्टता
- उपयोगिता

❖ **व्याधिकीय सामाजिक तथ्य** से आशय उन घटनाओं से है जो सामाजिक मूल्यों के विरुद्ध होती हैं और ये समाज में विचलन/विसंगति उत्पन्न करती हैं।

आत्महत्या का सिद्धांत

दुर्खीम ने अपनी पुस्तक *'Le Suicide' (The Suicide)* में विविध आंकड़ों के आधार पर आत्महत्या सिद्धांत का प्रस्तुत किया। उन्होंने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि अत्महत्या किसी व्यक्तिगत कारण का परिणाम नहीं है वरन् यह एक सामाजिक तथ्य है और इसका संबंध सामाजिक दशाओं और वैयक्तिक असमायोजन से उत्पन्न प्रतिध्वनि से है। दुर्खीम के अनुसार,

"आत्महत्या का सामाजिक पर्यावरण की अनेक दशाओं के मध्य संबंध उतना ही अधिक प्रत्यक्ष और सटीक होता है जितना कि जैविक और भौतिक दशाएँ आत्महत्या के साथ अनिश्चित और अस्पष्ट संबंध को अभिव्यक्त करती हैं।"

आत्महत्या के लिए दुर्खीम सीधे तौर पर समाज को ज़िम्मेदार मानते हैं और वे कहते हैं कि इसके लिए सामाजिक संरचना, व्यवस्था के साथ जब व्यक्ति सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता है, तो वह समाज से अलगावित होकर आत्महत्या कर लेता है। दुर्खीम ने आत्महत्या के निम्न प्रकारों का उल्लेख किया है–

❖ **अहम्वादी अत्महत्या-** यह एक ऐसी सामाजिक स्थिति का परिणाम है, , जिसमें समूह के नियंत्रण में बहुत कमी हो जाने के कारण व्यक्ति और समूह या समाज का संबंध अत्यंत कमज़ोर पड़ने लगता है और कुछ समय के उपरांत व्यक्ति स्वयं को समाज से कटा हुआ महसूस करने लगता है। दुर्खीम ने इसका मूल कारण अहंवाद को बताया है। वह सोचने लगता है कि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति समाज नहीं कर सकता है और न ही समाज का उसके प्रति कोई उत्तरदायित्व है। इस परिस्थिति में वह निराश होकर अत्महत्या कर लेता है। दुर्खीम ने अपने अध्ययन के दौरान यह पाया कि इस प्रकार की आत्महत्या विवाहितों की अपेक्षा अविवाहितों में अधिक होती है, क्योंकि वे सामाजिक और भावनात्मक दृष्टि से समाज से अपेक्षाकृत दूर होते हैं।

- **परार्थवादी अत्महत्या-** यह अहंवादी आत्महत्या का विपरीत रूप है। इसमें व्यक्ति समूह या समाज से इतना घुल-मिल जाता है कि वह स्वयं को समाज का ही अंश मानने लगता है और उससे अलग नहीं हो पाता। यथा– सती प्रथा में स्त्रियों का पति के शव के साथ ही सती हो जाना, युद्ध के दौरान सैनिकों द्वारा की गई आत्महत्या आदि।
- **आदर्शविहीन अत्महत्या-** इसका मूल कारण समाज में प्रतिमानहिनता की दशा है। जब किंचित आकस्मिक दशाओं के परिणामस्वरूप समाज का संगठन और उसका नैतिक संतुलन बिगड़ जाता है और इन परिस्थितियों में व्यक्ति उनसे समायोजन स्थापित नहीं कर पाता है तो वह आत्महत्या कर लेता है। यथा– अकाल के समय हुई आत्महत्या, दहेज के बोझ से की गई आत्महत्या आदि।
- **भाग्यवादी आत्महत्या-** इसके लिए उत्तरदायी कारक आवश्यकता से अधिक नियंत्रण, आदर्शवादिता और दृढ़ नियम पालन होता है और इससे तंग आकार व्यक्ति आत्महत्या कर लेता है। यथा– संतानहीन स्त्री द्वारा की गई आत्महत्या, गुलाम द्वारा अत्याचारों से तंग आकर की गई आत्महत्या आदि।

श्रम विभाजन का सिद्धांत

इसका प्रतिपादन दुर्खीम ने अपनी पुस्तक *'The Division of Labour in Society'* में किया है। यद्यपि दुर्खीम से पूर्व एडम स्मिथ हर्बर्ट स्पेन्सर, जे.एस. मिल आदि विद्वानों द्वारा आर्थिक आधार पर श्रम-विभाजन के सिद्धांत को प्रस्तुत किया जा चुका है परंतु दुर्खीम द्वारा प्रतिपदित श्रम-विभाजन का सामाजिक सिद्धांत एक पृथक अस्तित्व रखता है। उनके अनुसार श्रम विभाजन प्रत्येक समाजों की एक अनिवार्य विशेषता रही है। दुर्खीम ने श्रम विभाजन के दो कारणों का उल्लेख किया है–

- जनसंख्या के भौतिक घनत्व में वृद्धि
- जनसंख्या के नैतिक घनत्व में वृद्धि

दुर्खीम का मानना है कि आरंभ में मानव समाज की जनसंख्या कम थी और उनकी आवश्यकताएँ कम थी तथा उनके सापेक्ष साधन अधिक थे। सभी लोग अपनी आवश्यकतानुसार कार्य करने में संलग्न थे। समय परिवर्तित हुआ और जनसंख्या में वृद्धि हुई जिससे लोगों की आवश्यकताओं में वृद्धि हुईऔर इससे समाज का नैतिक दायित्व भी बढ़ा। इसके परिणामस्वरूप समाज में प्रतिस्पर्धा और संघर्ष के स्थान पर सामंजस्य और सहयोग को स्थापित करने के लिए उनके कार्यों का बंटवारा किया गया। समाज की इसी आवश्यकता ने श्रम विभाजन की नींव रखी। दुर्खीम ने श्रम विभाजन को दो भागों में बांटा है–

1. **सामान्य श्रम विभाजन-** यह श्रम विभाजन सामाजिक एकता में वृद्धि करता है।
2. **व्याधिकीय श्रम विभाजन-** यह श्रम विभाजन सामाजिक एकता को कमज़ोर करने का काम करता है।इसके दो प्रकार हैं–

- **अप्रतिमानित श्रम विभाजन-** जब श्रम विभाजन बिलकुल अतिवादी ढंग से लागू किया जाता है और इसके परिणामस्वरूप मज़दूर पूरी उत्पादन प्रणाली से स्वयं को अलग-थलग महसूस करने लगता है।
- **विवशतामूलक श्रम-विभाजन-** जब किसी वैकल्पिक रोज़गार के अभाव में मज़दूर किसी भी कार्य को करने के लिए मजबूर हो जाता है। यथा– बंधुआमज़दूर, दास प्रथा आदि।

धर्म का सामाजिक सिद्धांत

अपनी पुस्तक *'The Elementary Forms of Religious Life'* में दुर्खीम ने धर्म की उत्पत्ति और सामाजिक प्रकार्यों को आधार बनाकर धर्म की सामाजिक व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने आस्ट्रेलिया की **अरुण्टा जनजाति** के आनुभविक अध्ययन के आधार पर धर्म का सामाजिक सिद्धांत प्रतिपादित किया है। वास्तव में, धर्म का संबंध कुछ वस्तुओं और व्यवहारों को पवित्र मानने तथा विभिन्न अनुष्ठानों व विश्वासों के आधार पर अपवित्र वस्तुओं और व्यवहारों को उनसे दूर रखने से है। पवित्रता की धारणा ही समाज में समूहिक चेतना का सृजन करती है। अरुण्टा जनजाति के लोग जिस वस्तु, पत्थर, पेड़ अथवा पक्षी को अपना टोटम मानते हैं, उसको पवित्र मानकर सदैव उसकी रक्षा करते हैं। इस तरह धर्म का प्रकार्य समाज की एकता को बढ़ाना और उसके अनुयायियों के व्यवहार को अनुशासित करके सामूहिक चेतना में वृद्धि करना होता है।

3.4 मैक्स वेबर: परिचय और कृतियाँ

जर्मनी के विचारक मैक्स वेबर (1864-1920) उन प्रारंभिक विद्वानों में से प्रमुख हैं , जिन्होंने सामाजिक घटनाओं और समस्याओं के अध्ययन के लिए पृथक वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किया है। वास्तव में वेबर अपने चिंतन के आधार पर आधुनिक समाज के उस स्वरूप को स्पष्ट करना चाहते थे, जिसमें मानव व्यवहारों को प्रभावित करने में परंपराओं, भावनाओं और मूल्यों की तुलना में लक्ष्य प्रधान तार्किकता का महत्व कहीं अधिक है। वेबर की प्रमुख कृतियाँ निम्न हैं–

- ❖ The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism (1905)
- ❖ The Religion of China (1916)
- ❖ The Religion of India (1916-17)
- ❖ Ancient Judaism (1917-19)
- ❖ Economy and Society (1921)
- ❖ Sociology of Religion (1922)
- ❖ The City (1922)

- ❖ General Economic History (1923)
- ❖ The Theory of Social and Economic Organisation (1925)
- ❖ The Methodology of Social Sciences (1949)
- ❖ The Rational Foundations of Music (1958)

3.5 मैक्स वेबर द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत

मैक्स वेबर की रुचि कानून, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि में होने के कारण उन्हें किसी निश्चित खेमे तक सीमित कर पाना अत्यंत कठिन हैं। इन्होंने अपने अग्रज विद्वानों की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए सामाजिक घटनाओं को वैज्ञानिक दृष्टि से देखने के लिए **आदर्श प्रारूप** को एक साधन के रूप में और उसके लिए **वेस्टरहेन** को एक पद्धति के रूप में प्रस्तुत किया है। इसके अलावा वेबर ने **सामाजिक क्रिया** और **प्रोटेस्टेंट आचार संहिता के आधार पर धर्म** को व्याख्यायित किया है।

सामाजिक क्रिया

सामाजिक क्रिया को स्पष्ट करते हुये वेबर कहते हैं कि किसी भी क्रिया को सामाजिक क्रिया की संज्ञा तभी दी जा सकती है, जब उस क्रिया को करने वाले कर्ता के द्वारा लगाए गए व्यक्तिनिष्ठ अर्थ के अनुसार उसकी क्रिया समाज अथवा दूसरे व्यक्तियों की मनोवृत्तियों, भावनाओं और क्रियाओं द्वारा प्रभावित हो तथा इसी दौरान वह स्वयं भी प्रभावित हो। मूल रूप से वेबर की सामाजिक क्रिया हेतु निम्न तत्व आवश्यक भूमिका में हैं–

- सामाजिक क्रिया सदैव अर्थपूर्ण होती है।
- सामाजिक क्रिया अतीत, वर्तमान अथवा भविष्य के व्यवहारों से प्रभावित हो सकती है।
- सभी तरह की बाह्य क्रियाओं को सामाजिक क्रिया नहीं कहा जा सकता अर्थात् जड़पदार्थों अथवा काल्पनिक प्रेरणाओं से प्रभावित क्रियाएँ सामाजिक क्रिया की श्रेणी में नहीं आती हैं।
- सामाजिक क्रिया में कर्ता से अन्य का प्रभावित होना और उससे कर्ता का स्वयं भी प्रभावित होना आवश्यक होता है।

वेबर ने सामाजिक क्रिया को चार भागों में वर्गीकृत किया है–

- ❖ **लक्ष्य उन्मुख तार्किक क्रिया-** इसमें कर्ता अपने लक्ष्य का निर्धारण तथा उसको प्राप्त करने के लिए विविध संस्थागत साधनों का चयन अपने विवेक और तर्कों के आधार पर करता है। यथा– धनवान होने के लिए व्यवसाय करना, IAS बनने के लिए UPSC की तैयारी करना आदि।

- **मूल्य उन्मुख तार्किक क्रिया-** इसमें कर्ता लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तर्कपूर्ण साधनों का चयन तो करता है, परंतु वह जिन लक्ष्यों का चयन करता है वह किसी विशिष्ट मूल्यों पर आधारित होता है। यथा– डूबते हुए जहाज के साथ कप्तान द्वारा स्वयं भी डूबने का निर्णय कर लेना, मरीज की मदद करना आदि।
- **भावनात्मक क्रिया-** इसमें कर्ता द्वारा प्रेम, दया, सहानुभूति, घृणा, क्रोध आदि से प्रभावित होकर क्रिया की जाती है। यथा– माँ द्वारा क्रोध में आकार बेटे को तमाचा मार देना, मित्र से गले लगना, सैनिकों द्वारा देश के लिए प्राण न्योछावर कर देना आदि।
- **परंपरागत क्रिया-** ये क्रियाएँ परंपराओं, प्रथाओं, रीति-रिवाजों आदि से संबंधित होती हैं। यथा– अपने से बड़ों के पैर छूना, हाथ जोड़कर प्रणाम करना, अतिथि सत्कार करना आदि।

वेस्टरहेन

सामान्य अर्थों में वेस्टरहेन का तात्पर्य 'बोध' अथवा 'अंतर्दृष्टि' से लगाया जाता है। जर्मनी के दार्शनिक संप्रदाय में **हरमेन्यूटिक** शब्द का प्रचलन पहले से ही है, जिसका अर्थ किसी क्रिया को समझने के लिए स्वयं को उसके स्थान पर रखकर यथार्थ को जानना है। **डिल्थे** से प्रभावित होकर वेबर ने वेस्टरहेन को प्रतिपादित किया है, जिसके द्वारा सामाजिक घटनाओं और मानव व्यवहारों का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सके। अर्थात् यह एक ऐसी पद्धति है , जिसके द्वारा अध्यायनकर्ता स्वयं को कर्ता के स्थान पर रखकर उसकी क्रियाओं का व्याख्यात्मक बोध करने का प्रयास करता है।

आदर्श-प्रारूप

वेबर ने आदर्श प्रारूप की अवधारणा को सन् 1904 में 'Objectivity'नाम से लिखे गए निबंध में प्रस्तुत किया। आदर्श-प्रारूप विश्लेषण की एक पद्धति है, जो अध्ययनकर्ता को वास्तविक दशाओं में समानता और भिन्नता को मापने के लिए एक खांका अथवा मापदंड उपलब्ध करती है। एक उदाहरण की सहायता से इसे सरलता से समझा जा सकता है। यदि किसी शिक्षक के गुणों को मापना हो तो उसके लिए शिक्षक का आदर्श-प्रारूप बनाना होगा, जिसमें कुछ मूलभूत और सार्वभौमिक विशेषताओं को शामिल किया जाएगा। यथा–

- शिक्षक का व्यवहार अनुशासित होना चाहिए।
- उसे समयनिष्ठ होना चाहिए।
- उसका छात्रों के साथ व्यवहार मित्रवत होना चाहिए।
- उसे मूल्य परक और तर्कपरक होना चाहिए।
- उसे विषय संबंधी ज्ञान और उसे व्यक्त करने का कौशल होना चाहिए आदि।

यदि इन बिन्दुओं के आलोक में किसी शिक्षक को परखाजाए, तो यह आसानी से पता चल सकता है कि वह कितना बेहतर है।

प्रोटेस्टेंट नैतिकता (धर्म की व्याख्या)

वेबर के अनुसार धर्म मानव समाज में विश्वास, आचार-विचार, मूल्य और यहाँ तक कि आर्थिक जगत को भी निर्धारित और निर्देशित करता है। मार्क्स के आर्थिक निर्धारणवाद के विपरीत वेबर ने प्रोटेस्टेंट आचार और पूंजीवाद में समानुपाती संबंध को विश्लेषित किया है। वेबर ने अपने विद्यार्थी जीवन में ही प्रोटेस्टेंट धर्म के काल्विन मत का अध्ययन करना आरंभ कर दिया था। अपने व्यावहारिक अनुभवों के आधार पर वेबर की यह धारणा बन गई कि धर्म का संबंध केवल पूजा, अनुष्ठान, विश्वासों आदि की व्यवस्था से ही नहीं है अपितु धर्म का सार वे नीतियाँ व आचार हैं, जो एक धर्म विशेष के अनुयायियों के सामाजिक-आर्थिक व्यवहारों को प्रभावित करते हैं। वेबर ने प्रोटेस्टेंट धर्म और पूंजीवाद के विकास में सह संबंध का उल्लेख किया है–

1. प्रोटेस्टेंट आचारों ने एक ऐसे तर्क अथवा विवेक को प्रोत्साहित किया, जो ईश्वर को तो स्वीकार करता है, लेकिन उसके रहस्यों को जानने के पीछे अपने समय को नष्ट करने की आलोचना करता है। मनुष्य को ईश्वर का गौरव बढ़ाने के लिए अपने जीवन को उपयोगी व्यवसाय में संलग्न कर लेना चाहिए।
2. प्रोटेस्टेंट आचार के अनुसार 'कार्य अपने आप में पूजा है।' वेबर ने स्पष्ट किया कि परिश्रम को एक धार्मिक आचरण मानने के कारण ही प्रोटेस्टेंट धर्म के अनुयायी अधिक से अधिक व्यवसायों में शामिल होते हैं।
3. काल्विन यह मानता हैं कि 'जिस ईश्वर ने मनुष्य को जन्म दिया हैं, उसी ने उसके स्वर्ग अथवा नरक में जाने का निश्चय पहले से ही तय कर लिया है।'इस प्रकार प्रोटेस्टेंट धर्म के अनुयायी यह मानते हैं कि जो व्यक्ति अपने कार्य को जितनी सफलता से पूरा कर लेता है, उसका स्वर्ग में जाना उतना ही अधिक निश्चित होता है।
4. प्रोटेस्टेंट धर्म के आचार धन से धन को कमाने पर ज़ोर देते हैं और सन् 1545 से ऋण पर लिए जाने वाले ब्याज को उचित माना जाने लगा।
5. प्रोटेस्टेंट धर्म द्वारा नशे पर लगाए जाने वाले प्रतिबंध के बारे में कहा है कि यह पूंजीवाद के विकास में इसलिए सहायक है क्योंकि शराब न पीने वाला व्यक्ति बड़ी-बड़ी मशीनों का संचालन कुशलतापूर्वक कर सकता है।
6. प्रोटेस्टेंट धर्म का एक प्रमुख आचार यह है कि उसके सभी अनुयायी पढ़े-लिखे होने चाहिए, ताकि उन्हें बाइबिल पढ़ने के लिए किसी पर निर्भर न रहना पड़े।

7. प्रोटेस्टेंट वैराग्य धन के संचय के स्थान पर उसके अधिक से अधिक उपयोग से संबंधित है। जब तक जीवन है, तब तक अधिक से अधिक श्रम करके धन अर्जित करना चाहिए और अधिक से अधिक आनंद का उपभोग करने के लिए संचित किए गए धन का उपभोग करना चाहिए।

3.6 टालकाट पारसन्स: परिचय और कृतियाँ

टालकाट पारसन्स (1902-1978) का जन्म अमेरिका में हुआ था। पारसन्स का उद्देश्य ऐसे सिद्धांतों का निर्माण करना था, जिससे कि सामाजिक यथार्थ की पड़ताल वैज्ञानिक रूप से की जा सके। वे उन अवधारणाओं को बनाना चाहते थे जो अमूर्त हों और जिनके माध्यम से सामाजिक व्यवस्था और उसकी कार्यप्रणाली व संरचनाओं को समझा जा सके। आरंभ में इन्होंने वेबर की पुस्तकों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करके उसका प्रचार-प्रसार किया और बाद में अनेक महत्वपूर्ण अवधारणाओं को नवीन रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया। पारसन्स की प्रमुख कृतियाँ निम्न हैं–

- The Structure of Social Action (1937)
- The Social System (1951)
- Towards a General Theory of Action (with E.Shils) (1951)
- Family, Sociological and Interaction Process (with Bales) (1953)
- Essays in Sociological Theory (1964)
- Societies: Evolutionary and Comparative Perspectives (1966)
- Politics and Social Structure (1969)
- The System ofModern Societies (1971)

3.7 टालकाट पारसन्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत

पारसन्स ने यूरोप के कई विद्वानों (दुर्खीम्, वेबर,मार्क्स और परेटो) के विचारों को समन्वित करते हुए **ऐच्छिक क्रिया सिद्धांत** को प्रतिपादित किया। और एक अन्य सिद्धांत **सामाजिक व्यवस्था** को प्रतिपादित किया।

सामाजिक क्रिया

पारसन्स ने अपने से पूर्व के विद्वानों से प्रभावित होते हुए भी इनसे बिल्कुल भिन्न सामाजिक क्रिया के सिद्धांत को प्रस्तुत किया है। पारसन्स के अनुसार समाज मानव के पारस्परिक संबंधों का वह संपूर्ण क्षेत्रहै जो मानवीय क्रियाओं के परिणामस्वरूप संरचित होता है। सामाजिक क्रिया के चार आधारभूत तत्व होते हैं–

- कर्ता (जो क्रिया करता है)

- ❖ लक्ष्य (जिसे प्राप्त करने के लिए कर्ता द्वारा क्रिया की जाती है)
- ❖ परिस्थिति (किसी भी क्रिया को संपन्न करने हेतु दशाएँ, स्थान आदि)
- ❖ साधन (लक्ष्य-प्राप्ति के लिए आवश्यक माध्यम)

कर्ता द्वारा की गई सभी क्रियाएँ लक्ष्य उन्मुखी होती हैं। उक्त तत्वों को उदाहरण की सहायता से सरलता से समझा जा सकता है। एक लड़का (कर्ता) है, उसे मेला (लक्ष्य) देखने जाना है। मेला देखने जाने के लिए आवश्यक है कि उसके प्रति लड़के की रुचि (परिस्थिति अथवा अभिप्रेरणा) हो और मेला जाने के लिए उसके पास साइकिल (साधन) होनी चाहिए। पारसन्स के अनुसार व्यक्ति जब कोई क्रिया करता है, तो वह साधन और साध्य में विकल्प रखता है और उसकी क्रिया इन्हीं विकल्पों के माध्यम से संपन्न होती है। पारसन्स ने पाँच वैकल्पिक जोड़ों (प्रतिमान चर अथवा परिवर्त्य) की चर्चा की है –

1. **प्रदत्त बनाम अर्जित-** व्यक्ति स्वयं को किसी अन्य व्यक्ति के प्रति किस प्रकार से उन्मुख करे। उदाहरण के लिए जाति व्यवस्था में व्यक्ति की प्रतिष्ठा का निर्धारण कौशल न होकर जन्म के आधार पर होता है और किसी सिपाही को सम्मान उसके कौशल अथवा प्रदर्शन के आधार पर मिलता है।
2. **बहुपक्षीय बनाम एकपक्षीय-** कर्ता वस्तु के एक ही पक्ष तक अपनी रुचि को सीमित रखकर व्यवहार कर सकता है (डॉक्टर का मरीज के साथ किया गया व्यवहार) अथवा उसके सभी पक्षों में रुचि रखकर अपने व्यवहार का निष्पादन कर सकता है (माँ का अपने बेटे के साथ किया गया व्यवहार)।
3. **विशिष्टपरक बनाम सार्वभौमिक-** कुछ सामाजिक क्रियाएँ व्यापक स्तर पर संपन्न होती हैं, जैसे- पति-पत्नी का संबंध। कुछ संबंध विशिष्टता के स्तर पर होते हैं। यथा अध्यापक व शिष्य का संबंध।
4. **भावात्मकता बनाम भावात्मक तटस्थता-** कर्ता किन्हीं संबंधों में भावात्मक रूप से तटस्थ रहकर (किसी ग्राहक के साथ किया गया व्यवहार) अथवा पूर्ण भावात्मक रूप से कार्य करता है (पत्नी के साथ किया गया व्यवहार)।
5. **सामूहिक हित बनाम स्वहित-** कर्ता व्यवहार करते समय अपने हितों को प्राथमिकता देते हुए व्यवहार कर सकता है (किसी भी अवसर के उपयोग में स्वयं को प्राथमिकता देना) अथवा सामूहिक हितों को प्राथमिकता देते हुए व्यवहार कर सकता है (अवसर का लाभ उठाने का सभी को समान महत्व देना)।

पारसन्स ने सामाजिक क्रिया को तीन भागों में वर्गीकृत किया है–

- नैमित्तिक क्रिया
- अभिव्यंजनात्मक क्रिया

- नैतिक क्रिया

सामाजिक व्यवस्था

पारसन्स ने स्पष्ट किया हैं कि सामाजिक व्यवस्था सामाजिक क्रियाओं की संगठित प्रणाली है, जिसमें अनेक कर्ताओं द्वारा की गई क्रियाओं का समावेश होता है। मानव समाज भी एक पूर्ण सामाजिक व्यवस्था है, जो आत्मपोषी और आत्मनिर्भर है और किसी बाहरी सामाजिक व्यवस्था पर निर्भर नहीं हैं। पारसन्स के अनुसार सामाजिक व्यवस्था में अनेक कर्ता किसी-न-किसी सामाजिक परिस्थिति के तहत लक्ष्य प्राप्त करने के लिए सामाजिक मानदंडों और मूल्यों के अनुसार पारस्परिक अंतःक्रिया में संलिप्त हैं जिनके संयोजन से सामाजिक व्यवस्था का निर्माण होता है। सामाजिक व्यवस्था में निम्न तत्व उपलब्ध होने होते हैं –

- ❖ अंतःक्रिया में अनेक कर्ता संलग्न होते हैं।
- ❖ प्रत्येक कर्ता किसी-न-किसी लक्ष्य अथवा उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अन्तःक्रिया करता है।
- ❖ ये अंतःक्रियाएँ किंचित परिस्थितियों में घटित होती हैं।
- ❖ ये अंतःक्रियाएँ किसी सांस्कृतिक व्यवस्था द्वारा नियमित और परिभाषित होती हैं।

3.8 पियरे बोर्डियो: परिचय और कृतियाँ

पियरे बोर्डियो (1930-2002) का जन्म फ्रांस के उत्तर-पश्चिम में स्थित अल्जीरिया में हुआ था। जर्मन विद्वानों की ही भाँति बोर्डियो की भाषिक शब्दावली काफी क्लिष्ट रही है। उनकी प्रमुख कृतियाँ निम्नानुसार हैं–

- ❖ The School as a Conservative Force (1966)
- ❖ Outline of a Theory of Practice (1972)
- ❖ Reproduction in Education, Society and Culture (1977)
- ❖ Distinction (1979)
- ❖ Homo Academicus (1988)
- ❖ The Logic of Practice (1990)
- ❖ In Other Words: Essays Toward a Reflective Sociology (1990)
- ❖ The Political Ontology of Martin Heidegger (1991)
- ❖ An Invitation to Reflective Sociology (with Wacquant) (1992)

3.9 पियरे बोर्डियो द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत

यद्यपि पारसन्स की तरह बोर्डियो ने किसी ऐसे सिद्धांत को तो नहीं प्रतिपादित किया हैं, जो कोई ऊँचा स्थान रख सके, परंतु उनके द्वारा कुछ अवधारणाओं का प्रतिपादन अवश्य किया गया हैं जिनको सिद्धांत की तरह मान्यता प्राप्त हैं।

सांस्कृतिक पूंजी

बोर्डियो द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धांत मार्क्सवाद से प्रभावित है। वे यह कतई नहीं स्वीकार करते हैं कि उच्च वर्गों की संस्कृति किसी भी अर्थ में निम्न वर्गों की संस्कृति से बेहतर है। बोर्डियो इस बारे में यह तर्क देते हैं कि वस्तुत: इसमें निम्न वर्ग का कोई दोष नहीं होता है, यह दोष शिक्षा प्रणाली का है। जब शिक्षा प्रणाली उच्च वर्गों के लिए नियोजित रही है, तब परिणामस्वरूप उच्च और मध्य वर्ग के लोग उच्च संस्कृति को प्राप्त कर लेते हैं। इसका सीधा प्रभाव यह आया कि उच्च शिक्षा से उच्च संस्कृति का सृजन और इससे अधिक धन या पूंजी का निर्धारण हुआ।

सांस्कृतिक पुनरुत्पादन

बोर्डियो के अनुसार शिक्षण व्यवस्था अपनी संस्कृति को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित करती है। उनके अनुसार किसी भी संस्कृति को उच्च अथवा निम्न बताने के लिए कोई वैज्ञानिक आधार नहीं होता है। सामाजिक पूंजी की प्राप्ति शिक्षा प्रणाली के माध्यम से होती है और इस आधार पर शक्ति का उत्पादन होता है। शिक्षा के सहारे सांस्कृतिक पूंजी को निरंतर संचारित किया जाता है जिससे कि कुछ लोगों का इस प्रकार की पृष्ठभूमि पर आधिपत्य स्थापित हो गया और इसका परिणाम यह होता है कि समाज में गैर-बराबरी स्थापित हो जाती है।

हेबिटस

हेबिटस का संबंध जीवन पद्धति से है, इसके अंतर्गत किसी विशिष्ट सामाजिक समूह के मूल्य मान्यताएँ, आकांक्षाएँ और अपेक्षाएँ आती हैं। लोग अपने अनुभव के आधार पर ही अपने हेबिटस का निर्माण करते हैं। वे यह सीख जाते हैं कि अपने अनुभव के आधार पर किन वस्तुओं से किस प्रकार की अपेक्षाएँ होनी चाहिए, इनकी आपूर्ति किस प्रकार से हो और इनके प्राप्ति की कौन सी विधियाँ हैं। प्रत्येक समूह के अपने अलग-अलग अनुभव होते हैं और इसी कारण से प्रत्येक समूह के अलग-अलग हेबिटस होते हैं। उदाहरण के रूप में गुजराथियों को ही लें, तो वे दुनिया के किसी कोने में हों अपनी संस्कृति, खाने-पीने के अपने अलग शौक होते हैं। इसी तरह पंजाबियों के भी अपने हेबिटस होते हैं।

3.10 सारांश

उक्त वर्णित सभी विद्वानों ने समाज को समझने हेतु अपने समय के अनुसार उपयुक्त और उल्लेखनीय विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इमाइल दुर्खीम द्वारा प्रस्तुत सामाजिक तथ्य, श्रम-विभाजन, आत्महत्या और धर्म के सामाजिक सिद्धांत की विवेचना इस इकाई में की गई है। इसके अतिरिक्त इस इकाई में वेबर की सामाजिक क्रिया, आदर्श प्रारूप, वेस्टरहेन और प्रोटेस्टेंट धर्म के सिद्धांत का वर्णन किया गया है। पारसन्स ने सामाजिक क्रिया और सामाजिक व्यवस्था सिद्धांत का प्रतिपादन किया और बोर्डियो के सांस्कृतिक पूंजी, सांस्कृतिक पुनरुत्पादन और हेबिटस की अवधारणा को भी इस इकाई में सम्मिलित किया गया है।

3.11 बोध प्रश्न

प्रश्न 1: इमाइल दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित सामाजिक तथ्य सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 2: श्रम-विभाजन के सिद्धांत की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 3: धर्म की सामाजिक व्याख्या प्रस्तुत कीजिए।

प्रश्न 4: वेबर की सामाजिक क्रिया पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 5: प्रोटेस्टेंट आचार संहिता और धर्म के सिद्धांत और उसमें संबंध को बतलाइए।

प्रश्न 6: पारसन्स की सामाजिक क्रिया और सामाजिक व्यवस्था सिद्धांत का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 7: टिप्पणी कीजिए-

1. आत्महत्या का सिद्धांत
2. आदर्श प्रारूप
3. वेस्टरहेन
4. सांस्कृतिक पूंजी
5. प्रतिमान चर
6. हेबिटस

ज्ञान शांति मैत्री

3.12 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

पारसन्स, टी. (1951). द *सोशल सिस्टम*. लंदन: राउटलेज

एरों, आर. (1965). *मेन करेंट्स इन सोशिओलोजिकल थॉट्स*. पिसकैटवे: ट्रांजक्शन पब्लिशर्स

कोजर, एल. (1971). *मास्टर्स ऑफ सोशिओलोजिकल थॉट्स*. कैलिफोर्निया: हारकोर्ट पब्लिशर्स

अब्राहम एवं मॉर्गन. (1989). *सोशिओलोजिकल थॉट्स*. यूनाइटेड स्टेट्स: इंडियाना यूनिवर्सिटी

अग्रवाल, जी.के. एवं शर्मा, एस. (1993). *प्रमुख समाजशास्त्रीय विचारक*. आगरा: एस.बी.पी.डी पब्लिशिंग हाउस

रावत, ह. (2001). *उच्चतर समाजशास्त्रीय विचारक*. जयपुर: रावत पब्लिकेशन

दोषी, एस.एल. (2007). *आधुनिक समाजशास्त्रीय विचारक*. जयपुर: रावत पब्लिकेशन

हुसैन, म. (2010). *समाजशास्त्रीय विचार*. नई दिल्ली: ओरियंट ब्लैकस्वन प्राइवेट लिमिटेड

इकाई 4
सामाजिक विचारों का विकास: गांधी, अंबेडकर एवं लोहिया

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 गांधी: परिचय और प्रमुख कृतियाँ
4.3 गांधी के विचार
4.4 अंबेडकर: परिचय और प्रमुख कृतियाँ
4.5 अंबेडकर के विचार
4.6 लोहिया: परिचय और प्रमुख कृतियाँ
4.7 लोहिया के विचार
4.8 सारांश
4.9 बोध प्रश्न
4.10 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप –

- गांधी के विचार और उनकी अवधारणाओं को स्पष्ट कर सकेंगे।
- अंबेडकर के विचारों की जानकारी प्राप्त की सकेंगे।
- लोहिया के विचारों को रेखांकित कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

19 वीं सदी के भारत की व्यवस्थाएँ पूर्व की तुलना में अनुदारवादी रूढ़िवादी, सामंतवादी तथा संकुचित थीं। वास्तव में, 19वीं सदी की सामाजिक व्यवस्था अनेक कुरीतियों से ग्रस्त था। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान जहां हिंसा बनाम अहिंसा की राजनीति का बोलबाला था, वहीं ये विद्वान (गांधी, अंबेडकर और लोहिया) अपने विचारों के माध्यम से समाज में समता के स्थायित्व की वकालत कर रहे थे। गांधी यह चाहते थे कि संप्रदायवाद और जातिवाद की कुप्रथाएँ हमेशा के लिए समाप्त हो जाए और सभी को कल्याण के समान अवसर उपलब्ध हो सके। अंबेडकर सभी धर्मों व जातियों में समानता के समर्थक थे और वे शूद्रों और दलितों के सर्वाधिक उत्पीड़क और उपेक्षित वर्ग का उत्थान भी चाहते थे। लोहिया ने समाजवाद की वैचारिक संरचना में भारतीय चिंतन को नई दिशा प्रदान की हैं।

4.2 गांधी: परिचय और प्रमुख कृतियाँ

मोहनदास करमचंद गांधी (2 अक्टूबर 1869- 30 जनवरी 1948) का जन्म कठियावाड़, गुजरात के पोरबंदर (सुदामा पुरी) नामक स्थान पर एक वैष्णव परिवार में हुआ था। ईश्वर अथवा किसी आधारभूत सर्वव्यापी सत्ता में अटूट विश्वास गांधी के विचारों का मूल मंत्र है। ईश्वर'संपूर्ण विश्व में व्याप्त एक जीवन-ज्योति है' और उसे केवल सत्य माना जा सकता है। गांधी पर पुरातन धार्मिक ग्रंथों के अलावा कुछ पश्चिमी विद्वानों के प्रभाव को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। इस सूची में जॉन रस्किन, टॉलस्टॉय, थोरो, टी.एच. ग्रीन प्रमुख हैं। गांधी की प्रमुख कृतियाँ निम्न हैं-

- ❖ हिंद स्वराज्य
- ❖ सत्य के साथ मेरे प्रयोग
- ❖ दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह
- ❖ स्वास्थ्य की कुंजी
- ❖ मंगल प्रभात, आदि

4.3 गांधी के विचार

नैतिक मापदंड

गांधी के आध्यात्मिक, नैतिक व समाजशास्त्रीय धारणाओं के बीच अंतःसंबंध है। ईश्वर अथवा सत्य उनके चिंतन के बुनियादी आधार हैं। गांधीजी का समस्त दर्शन सत्य, अहिंसा और लोकतंत्र के मौलिक सिद्धांतों पर आधारित था। गांधी से पूर्व विभिन्न दार्शनिकों, धर्मों व संप्रदायों ने समय-समय पर सत्य-अहिंसा की रूढ़िवादी-परंपरावादी व्याख्या प्रस्तुत की है।

सत्याग्रह :

'सत्याग्रह' शब्द 'सत्य' और 'आग्रह' शब्दों से बना है, जिसका अर्थ है सत्य के लिए दृढ़ता पूर्वक आग्रह करना। सत्याग्रह का शाब्दिक अर्थ है सत्य–आचरण, इसलिए इसे सत्य-बल कह सकते हैं। सत्य को आत्मबल के रूप में भी समझा जाता है। यह हिंसा की उपेक्षा करता है । सत्याग्रह शब्द, दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों के अहिंसात्मक प्रतिरोध व अन्य लोगों के निष्क्रिय-विरोध में फ़र्क दिखलाने के लिए गढ़ा गया था। सत्याग्रह प्रेम पर आधारित है, घृणा पर नहीं। सत्याग्रह का आधार अपने विपक्षी को प्रेम करने और स्वयं कष्ट उठाकर उसका हृदय-परिवर्तन करने में है। सत्याग्रह पाप का प्रतिरोध है, पापी का नहीं। सत्याग्रह अनुशासन की मांग करता है, इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति को आत्मबलिदान करना पड़ सकता है।

सत्याग्रही के लिए नियम

गांधी जी ने सत्याग्रही के लिए कुछ नियम निर्धारित किये थे, जिसका पालन करना चाहिए-

- सत्यरूपी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करना.
- अहिंसा में विश्वास.
- ब्रह्मचर्य का पालन
- आस्तेय का व्यावहारिक प्रयोग
- अपरिग्रह
- मादक द्रव्यों से दूर रहना.
- खादी पहनना.
- अस्पृश्यता का पालन करना.
- आत्मानुसरण व अनुशासन का पालन करना.

गांधी को 'महात्मा' का उद्बोधन दिया जाता है । उनके जीवन में क्रियात्मक आधार पर कुछ नैतिक मानदंड शामिल हैं संभवतः इसी कारण उन्हें महात्मा गांधी का संबोधन मिला। मानव धर्म को नैतिकता से संबंधित मानते हुए उनका मानना है कि कोई ऐसा धर्म नहीं है जो नैतिकता से ऊपर हो।

एकादश व्रत

आश्रमवासियों के लिए गांधी जी ने कुछ नैतिक नियम बनाए थे, जिसे एकादश व्रत के नाम से भी जाना जाता है, ये हैं–

1. सत्य
2. अहिंसा
3. सत्याग्रह
4. ब्रह्मचर्य
5. सर्वोदय
6. शारीरिक श्रम
7. स्वदेशी
8. अस्तेय तथा अपरिग्रह
9. निष्काम भावना
10. सर्व-धर्म समभाव
11. साधन और साध्य की पवित्रता

सर्वोदय की अवधारणा

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी ने संपूर्ण विश्व के विकासक्रम का एक स्वाभाविक वर्णन करते हुए सर्वोदय के विचार को प्रस्तुत किया। इसका शाब्दिक अर्थ 'सभी का उदय' है। गांधी जी के अनुसार एक लोकतंत्र मेंयदि कुछ लोगों का शोषण होता है, तो इसे सच्चा लोकतंत्र नहीं कहा जा सकता है। एक समताकारी व्यवस्था वही हो सकती है, जिसमें देश के सभी नागरिकों और संपूर्ण मानव जाति का समान रूप से विकास हो। गांधी जी ने इस विचार के तीन पक्षों का उल्लेख किया है–

- प्रेम और अहिंसा
- अंत्योदय
- मानवीय मूल्यों की स्थापना

सर्वोदय की अवधारणा को उद्देश्य निम्न प्रारक से विश्लेषित किया जा सकता है–

1. विकेंद्रीकरण
2. स्वावलंबन
3. आत्म-अनुशासन में वृद्धि
4. सर्व-धर्म समभाव

संरक्षकता या ट्रस्टीशिप का सिद्धांत

महात्मा गांधी से पूर्व भारत का पूरा आर्थिकइतिहास एक असमानताकारी और सामंती व्यवस्था की चपेट से आहत था। गांधी जी विषमता और आर्थिक शोषण के विरुद्ध थे और उन्होंने इसके निवारण के रूप में संरक्षकता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इसमें उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि धनवान लोगों में अपनी आवश्यकताओं मेंव्यय धन के पश्चात बचे पैसों का उपयोग जनसाधारण के हित में करना चाहिए। इस प्रकार से समाज में बिना किसी संघर्ष के आर्थिक समता स्थापित की जा सकती है। गांधी जी ने कहा है कि समाज में निवासरत सभी व्यक्तियों की कुशलता और शक्ति एक समान नहीं होती है। यदि बुद्धिमान और शक्तिशाली लोगों द्वारा अपने कौशल का प्रयोग जनसाधारण के हित के लिए किया जाए तो वे समाज में समता बनाने में अपना योगदान दे सकते हैं। यह सिद्धांत बताता है कि व्यक्तिगत संपत्ति और संरक्षक की संपत्ति में अंतर होता है। व्यक्तिगत संपत्ति उत्तराधिकार के रूप मेंपिता से पुत्र को पीढ़ी दर पीढ़ी प्राप्त होता है, परंतु संरक्षकता की संपत्ति का स्वामी स्वयं व्यक्ति होता है उसका कोई उत्तराधिकारी नहीं होता है। इस संपत्ति पर यदि किसी का अधिकार होता है तो वह समाज का अथवा जनता का होता है। गांधी जी ने जिस समाज की कल्पना इस सिद्धांत के माध्यम से की है, उसमें संपत्ति अथवा भूमि पर स्वविमत्व तो जमींदार अथवा पूंजीपति अथवा भूस्वामी का होगा, परंतु नैतिक रूप से यह संपत्ति पूरे समाज की होगी।

4.4 अंबेडकर: परिचय और प्रमुख कृतियाँ

डॉ. भीमराव रामजी अंबेडकर (14 अप्रैल 1891- 6 दिसंबर 1956) का जन्म मध्य प्रदेश के इंदौर (महू) के पास छावनी में हुआ। उन्होंने हिंदु ओं मेंअछूत' और 'अस्पृश्य' मानी जाने वाली जातियों को संगठित करने का काम किया और शासन के अंगों में उनके प्रतिनिधित्व के लिए संघर्ष किया व उनकी शिक्षा को बढ़ावा दिया। उनकी प्रमुख कृतियाँ निम्न हैं–

- Ancient Indian Commerce (1915)
- The Evolution of Provincial Economy in British India (1916)
- Castes in India (1917)
- Small Holding in India and Their Remedies (1917)
- Provincial Decentralization of Imperial Finance in British India (1921)
- The Problem of Rupee (1921)
- Annihilation of Caste (1938)
- Federation Versus Freedom (1939)
- Mr. Gandhi and the Emancipation of the Untouchables (1943)
- Ranade, Gandhi and Jinnah (1943)
- Thoughts of Pakistan (1945)
- What Congress and Gandhi have done to the Untouchables? (1945)
- Communal Deadlock and a Way to Solve it (1945)
- Who were Shudras? (1946)
- States and Minorities (1947)
- History of Indian Currency and Banking Part I (1947)
- Pakistan or the Partition of India (1948)
- The Untouchables, Who are they? (1948)
- Maharashtra as a Linguistic State (1948)
- Gospel of Buddhism (1952)
- Thoughts on Linguistic State (1955)
- The Riddle of Hinduism (1956)
- The Buddha and his Dhamma (1957)

4.5 अंबेडकर के विचार

असमानता और शोषण के विरुद्ध वैचारिक संघर्ष

अंबेडकर का यह मत था कि राजनीतिक समानता और कानून के समक्ष समानता स्थापित करके भारत में समानता को पूर्ण रूप से लागू नहीं किया जा सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि भारतवासियों में सामाजिक-आर्थिक समानता के बीज का रोपण किया जाए। संविधान का प्रारूप तैयार करने के दौरान उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया था कि इससे राजनीतिक जीवन में तो समानता लाई जा सकती है, परंतु सामाजिक-आर्थिक जीवन फिर भी इससे अछूता ही रह जाएगा। समानता का सिद्धांत तभी कारगर साबित होगा, जब मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यानि राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक तीनों में प्रत्येक व्यक्ति को समान नैतिक मूल्यवत्ता प्राप्त हो सके।

उन्होंने जाति प्रथा पर कठोर प्रहार किया और भारतीय समाज में व्याप्त असमानता का मुख्य कारण जाति प्रथा को माना। अंबेडकर का कहना है, *"छुआछूत का जन्म जाति प्रथा से हुआ है, जाति प्रथा का जन्म वर्ण व्यवस्था से हुआ है और वर्ण व्यवस्था व जाति प्रथा ब्राह्मणवाद की देन है।"* अंबेडकर ने असमानता और अछूतों के अधिकारों के लिए संघर्ष किए। उनके कार्यों को निम्न प्रकार से सूचीबद्ध किया जा सकता है–

- जाति प्रथा की कटु आलोचना
- असमानता के उन्मूलन हेतु अछूतों में जीवन सुधार की भावना को प्रबल करने का आग्रह
- अछूतों के नागरिक अधिकारों तथा सार्वजनिक स्तरों के प्रयोग के लिए संघर्ष
- दलितों के लिए राजनैतिक अधिकार
- दलितों के लिए पृथक प्रतिनिधित्व एवं इस संबंध में गांधी जी से मतभेद
- स्त्रियों के अधिकार के पक्षधर

जनतंत्र पर विचार

जनतंत्र पर अंबेडकर का विश्वास अटूट था, वे यह मानते थे कि समाज में समता कायम करने के लिए जनतंत्र एक अद्भुत साधन है। जनतंत्र का अर्थ है 'एक वोट, एक मूल्य'। अंबेडकर के अनुसार जनतंत्र का अभिप्राय स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व से है। अका मानना हैं कि सच्चे जनतंत्र के लिए आवश्यक है कि धर्म को राजनीति से पृथक रखा जाय। उनके विचारों के आलोक में जनतंत्र की कुछ विशेषताएँ निम्न उिल्लखित हैं –

- इसकी सत्ता वंशानुगत न होने के कारण जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों को प्राप्त होती है।
- इसमें शक्ति का आधिपत्य किसी एक व्यक्ति के पास न होकर पूरी संरचना के पास होता है।

- इसमें निर्वाचित प्रतिनिधियों को जनता के विश्वास को हासिल करना पड़ता है और निश्चित समय अंतराल के पश्चात पुनः विश्वास को जगाना पड़ता है।

4.6 लोहिया: परिचय और प्रमुख कृतियाँ

राम मनोहर लोहिया (23 मार्च 1910- 12 अक्टूबर 1967) का जन्म उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जिले के अकबरपुर कस्बे के एक वैश्य परिवार में हुआ। लोहिया को भारतीय राजनीति के विवादास्पद नेता की छवि प्राप्त है। वे सच्चे समाजवादी थे, उन्होंने पूँजीवाद और साम्यवाद के मूल लक्ष्यों एवं आधारोंपर चोट पहुँचाते हुए भारतीय समाजवाद को स्थापित करने का प्रयास किया है। लोहिया की प्रमुख कृतियाँ निम्न उल्लेखित हैं–

- ❖ स्वराज्य क्यों और कैसे (1937)
- ❖ कृष्ण, वाल्मीकि और वशिष्ठ
- ❖ क्रांति के लिए संगठन
- ❖ Indian Foreign Policy (1938)
- ❖ Aspects of Socialist Policy (1952)
- ❖ Equidistant Theory (1953)
- ❖ Wheel of History (1955)
- ❖ Will to Power and Other Writings (1956)
- ❖ Guilty Men to Indian Partition (1960)
- ❖ Marx, Gandhi and Socialism (1963)
- ❖ Fragments of World Mind (1965)
- ❖ Interval During Politics (1965)
- ❖ Note and Comments (1972)

4.7 लोहिया के विचार

लोहिया ने समाजवादी चिंतन की समस्याओं को एशियाई परिदृश्य से समझने का प्रयास किया हैं। लोहिया ने वर्ग और जातियों का विश्लेषण एक साथ संबद्ध करके किया है और बताया हैं कि वर्ग और जातियों के संघर्ष से ही इतिहास आगे बढ़ता है। ये दोनों भारतीय समाज में विद्यमान है और बिना इन्हें जाने भारतीय समाजवाद को स्थापित नहीं किया जा सकता है।

समाजवाद पर विचार

लोहिया पर गांधीवादी शिक्षा का प्रभाव व्यापक रूप से पड़ा। इन्होंने समाजवाद को एशियाई पद्धति से परखने का प्रयास किया है। समाजवाद की स्थापना के लिए लोहिया ने लघु एवं कुटीर उद्योग, आर्थिक एवं राजनीतिक विकेंद्रीकरण, ग्राम पंचायतों को स्थापित करके समाजवादी लक्ष्यों की प्राप्ति पर ज़ोर दिया है। लोहिया ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि यदि समाजवाद को क्रियान्वित करना होगा तो उसके लिए गांधीवादी सिद्धांतों का सहारा लेना होगा। वे पश्चिमी समाजों में प्रचलित परंपरागत समाजवाद को उपयुक्त नहीं मानते हैं।

सप्त क्रांति की अवधारणा

लोहिया का समाजवाद, तर्क और विचार के विश्व में लोकतंत्र का समर्थन करता है। वह प्रत्येक नागरिक के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता को महत्वपूर्ण मानते हैं। यही कारण था कि इन्होंने अहिंसा के संदर्भ में नागरिक अवज्ञा को नागरिक अधिकार के रूप में स्वीकार किए जाने पर ज़ोर दिया है। लोहिया का समाजवाद आर्थिक विकेंद्रीकरण और समानता के आदर्शों से परिभाषित होता है। उन्होंने समाजवाद के क्रियान्वयन के लिए सात क्रांतियों का उल्लेख किया है–

- ❖ स्त्री-पुरुष की समानता के लिए क्रांति
- ❖ वर्ण (रंग) आधारित मानसिक, राजकीय और आर्थिक असमानता के विरुद्ध क्रांति
- ❖ जाति व्यवस्था के विरुद्ध और पिछड़ों को सुअवसर उपलब्ध कराने के लिए क्रांति
- ❖ विदेशी गुलामी के खिलाफ तथा स्वतंत्रता व विश्व लोकतंत्र के लिए क्रांति
- ❖ आर्थिक समानता तथा योजना द्वारा पैदावार में वृद्धि हेतु क्रांति
- ❖ निजी जीवन में अवैधानिक हस्तक्षेप और लोकतंत्र के लिए क्रांति
- ❖ हिंसा के खिलाफ और सत्याग्रह के लिए क्रांति

लोकतंत्र पर विचार

लोहिया का मानना है कि अधिकार-चेतना के द्वारा ही मानव का व्यक्तित्व विकसित होता है और व्यक्ति में निहित अधिकार राज्य के द्वारा ही अपने यथार्थ तक पहुँच पाते हैं। अतः व्यक्ति के विकास के लिए राज्य का अस्तित्व अत्यंत आवश्यक है और राज्य की संरचना और व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए शक्ति और दंड का प्रयोग आवश्यक है। यद्यपि लोहिया उस व्यवस्था को उचित मानते हैं, जिसमें दंड और शक्ति के प्रयोग बिना मानव जीवन सुख और गरिमापूर्ण तरीके से व्यतीत हो सके।

4.8 सारांश

उक्त वर्णित सामाजिक चिंतन के तीनों विद्वान समाज में समता और स्वतंत्रता की स्थायी व्यवस्था को लागू करने की कवायद करते हैं और उससे संबंधित अपने विचारों पर जनसाधारण द्वारा अमल करने पर ज़ोर देते हैं, परंतु लक्ष्य और उद्देश्य समान होने के बावजूद वे अपने-अपने दृष्टिकोण से अलग-अलग साधनों और पद्धतियों का चयन करते हैं। कई मामलों में वे समान विचारों पर सहमत भी होते हैं तो कई मामलों में इनके विचारों विरोधाभासी भी हैं, जिनकी चर्चा इस इकाई के अंतर्गत पहले ही की जा चुकी है।

4.9 बोध प्रश्न

प्रश्न 1: महात्मा गांधी के अर्थ संबंधी विचारों की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 2: सर्वोदय और स्वराज्य की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3: अंबेडकर के जाति संबंधी विचारों को बताइए।

प्रश्न 4: लोहिया की सप्त क्रांति की अवधारणा पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 5: टिप्पणी कीजिए-

1. गांधी के नैतिक मापदंड
2. अंबेडकर का लोकतंत्र पर विचार
3. लोहिया का लोकतंत्र पर विचार
4. लोहिया का समाजवाद

4.10 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

शर्मा, र. (2008). *गांधी, अंबेडकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएँ.* नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन

कुमार, अ. एवं अली, इ. (2012). *भारतीय राजनीतिक चिंतन.* नई दिल्ली: डार्लिंग किंडरस्ले

पाण्डेय, आर.पी., मिश्र, स. एवं पाण्डेय,अ. (2010). *आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचारक.* दिल्ली: नवराज प्रकाशन

भगवान, व. (2000). *भारतीय राजनीतिक विचारक.* दिल्ली: आत्माराम एण्ड संस

कुमार, प. (2006). *भारतीय राजनीतिक विचारक.* नई दिल्ली: ओमेगा पब्लिकेशन

कुमार, अ. (2014). *गांधी-लोहिया-जयप्रकाश और हमारा समय.* दिल्ली: नई किताब

चक्रवर्ती, व. एवं पाण्डेय, र.क. (2012).*आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन.* नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशन इंडिया प्राइवेट लिमिटेड